<u>हमारा आख़िरी जवाब</u>

कुतर्कों, कठदलीली, कूढ़मग़ज़ी और कुलकपरस्ती की पवनचक्की के पंखों में गोल-गोल घिसट रहे *दोन किहोते दि ला पटना* और "यथार्थवादी" बौड़म मण्डली

सनी सिंह

धनी किसान-कुलक आन्दोलन के विषय में हमारी यानी कि 'आह्वान' की पिछले कई माह से चल रही 'यथार्थ'/'दि ट्रूथ' पत्रिका से बहस में पाठकों के समक्ष अब तक दोनों पक्षों के सभी तर्क आ चुके हैं। जैसा कि कुछ दिनों पहले ही हमने स्पष्ट किया था कि यह हमारा आख़िरी जवाब होगा। वजह यह है कि "यथार्थ/दि ट्रूथ' पत्रिका के इर्द-गिर्द इकट्ठा मूर्ख मण्डली इस बहस में पहले ही औंधे मुंह पड़ी है, उसके सारे कुतर्क, कठदलील, गलदोदई और साथ ही शर्मनाक मूर्खता और अज्ञान पहले ही बेनक़ाब हो चुके हैं। साथ ही, बहस में पिट जाने के कारण हताशा के शिकार "यथार्थवादी" कुण्ठितों की गलबहिंयां जिस प्रकार के कुत्साप्रचारकों, स्त्री-विरोधी यौन कुण्ठितों और पतित तत्वों के साथ चल रही है, उसके बाद इनसे बहस करने का कोई साझा आधार वैसे भी समाप्त हो चुका है। और तीसरी बात, मूर्खता के ऐसे स्तर से लगातार *इंगेज* करना वक़्त की भी बरबादी है और इससे आपकी सेहत पर भी बुरा असर पड़ सकता है! यही वजह है कि 'आह्वान' की ओर से यह हमारा आख़िरी जवाब है।

हमने 'यथार्थ'/'दि ट्रूथ' पत्रिका के इर्द-गिर्द इकट्ठा हुए विभिन्न प्रकार के बौद्धिक फ्रॉडों की तथाकथित "क्रान्तिकारी" लफ्फाज़ी के खोल में छिपी कुलकपरस्ती को लगातार उजागर किया है। साथ ही इस बहस में यह भी स्पष्ट हुआ है कि "यथार्थवादी" मण्डली के रूप में इकट्ठा हुए इन कुलक-प्रेमियों, जिनमें कि हमारे *दोन किहोते दि ला पटना* उर्फ़ "महासचिव" अजय सिन्हा और सोशल मीडिया के कुर्सीतोड़ "वामपन्थी" पत्रकार यानी कि मुकेश असीम प्रमुख हैं, का मार्क्सवाद से कोई लेना-देना नहीं है। हो भी नहीं सकता क्योंकि इसके लिए मार्क्सवाद के गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता होती है। इसके अलावा हमने अब तक यह भी देखा कि बहस में पिट जाने और निरुत्तर हो जाने के बाद किस तरह *माटसाब* और "यथार्थवादी" मूर्ख मण्डली अपनी अवस्थितियों को बेशर्मी और मौक़ापरस्ती के साथ बदलती रही है। यही नहीं बहस में हुई रगड़ाई से उठे दर्द की टीस और हताशा ने इन्हें सीधे तमाम क़िस्म के ग़लीज़ कुत्साप्रचारकों, क्रान्ति के भगोड़ों, स्त्री-विरोधी यौन कुंठितों और ऐसे ही अन्य पतित तत्वों की बांहों में पहुँचा दिया। बहरहाल, इस बहस में हमारे पक्ष को निम्न लिंकों पर जाकर देखा जा सकता है:

http://ahwanmag.com/archives/7714
http://ahwanmag.com/archives/7719
http://ahwanmag.com/archives/7726
<u>http://ahwanmag.com/archives/7748</u>
https://redpolemique.wordpress.com/2021/05/18/ajay-sinha-aka-don-quixote-de-la-patnas-disastrous-encounter-with-marxs-theory-of-ground-rent/

आप देखेंगे कि हमारी आलोचनाओं का तर्कशः और तथ्यतः जवाब देने की जगह 'यथार्थ'/'दि ट्रूथ' पत्रिका के बौद्धिक फ्रॉडों ने अपनी अवस्थितियों को बदलते जाना, झूठ बोलना और कठदलीली करना व हमारे खिलाफ़ कुत्सा-प्रचार करना जारी रखा है।

हम 'यथार्थ' पत्रिका के नये अंक में आये दो लेखों में उनके कुतर्कों और उनकी इस गलथेथरी का 'आह्वान' के पृष्ठों से आख़िरी बार जवाब दे रहे हैं क्योंकि "यथार्थवादी" बौड़म ब्रिगेड के मूल तर्क ख़त्म हो चुके हैं और अब मास्टरजी यानी कि "महासचिव" अजय सिन्हा बस अपनी नन्ही-सी बच्चा पार्टी के समक्ष अपनी इज़्ज़त बचाने के प्रयास में कभी अपने ही द्वारा बोली गयी बातों को बदल रहे हैं तो कभी गंजे होने की हद तक घिस चुके अपने कुतर्कों को बार-बार गोल-गोल दुहरा रहे हैं। 'यथार्थ' में आये ये लेख निम्न लिंक पर जाकर पढ़े जा सकते हैं:

https://sarwahara.com/2021/05/19/ahwan-bigul-reply-3/
https://sarwahara.com/2021/05/19/kisan-andolan-yatharth-bigul-bahas/

मौजूदा लेख के ज़रिये हम पटना के दोन किहोते महोदय के बातबदलूपन और झूठों को एक बार फिर आख़िरी बार पाठकों के समक्ष स्वयं *माटसाब* को ही उद्धृत करके उजागर करेंगे और उनकी नयी मूर्खताओं और बुनियादी मार्क्सवादी अवधारनाओं के प्रति उनकी अज्ञानता को भी एक बार फिर बेपर्द करेंगे। यह जवाब हमारा आख़िरी जवाब इसलिए भी है क्योंकि मूर्खता, बातबदलूपन और अज्ञान के इस स्तर से बार-बार *इंगेज* करना किसी की भी सेहत के लिए अच्छा नहीं होता है और इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं होती है।

अपने मौजूदा लेख में *माटसाब* ने हमारी पिछली लिखित आलोचना आते ही अपनी पुरानी अवस्थिति पुन: बदल ली है। हम उनके उपरोक्त दो लेखों के ज़रिये उनकी इस चिर-परिचित आदत को एक बार फिर दर्शाएंगे और अन्त में बेहद संक्षेप में उनकी अब तक की तमाम बन्दरकुद्दियों और उलटबांसियों के प्रक्षेप पथ को *ट्रेस* करेंगे। लेकिन सबसे पहले आइये देखते हैं कि इस बार के लेखों में पटना के दोन किहोते ने क्या नए गुल खिलाएं हैं:

1. इस बार के लेखों में *माटसाब* ने अक्तूबर क्रान्ति के इतिहास के साथ फिर से दुराचार किया है, उसे पुनः तोड़ा-मरोड़ा है और अब यह बताने का प्रयास किया है कि अक्तूबर क्रान्ति में गांवों में भी तात्कालिक तौर पर समाजवादी क्रान्ति ही हुई थी और तीन वर्गों का मोर्चा ही बना था। **वह अपनी पुरानी अवस्थिति बदलते हुए कहते हैं कि अक्तूबर क्रान्ति के वक़्त धनी किसान और कुलक वर्ग समाजवादी क्रान्ति के वर्ग संश्रय में शामिल नहीं थे लेकिन फिर भी यह वर्ग समाजवादी क्रान्ति के साथ आया था!** एक दफ़ा फिर ऐसा अजीबोग़रीब पैंतरापलट हमारे दोन किहोते महोदय ने इसलिए किया गया है ताकि वह आज भारत में समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम को स्वीकार करते हुए भी धनी किसानों-कुलकों की पूंछ में कंघी कर सकें।

2. **दूसरा, *माटसाब* द्वारा 'किसान बुर्जुआज़ी' के सवाल पर बोले गए झूठ को पकड़े जाने पर फिर अपनी बात बदल ली गयी है।** पाठकों को याद होगा कि पटना के दोन किहोते महोदय का दावा था कि 'किसान बुर्जुआज़ी' पूंजीपति वर्ग का हिस्सा नहीं है और सर्वहरा वर्ग का मित्र है। हमने लेनिन के हवाले से सप्रमाण और ससंदर्भ दिखलाया था कि 'किसान बुर्जुआज़ी' दरअसल पूंजीवादी फार्मर है जो गाँव में पूंजीपति वर्ग की भूमिका में ही है और ग्रामीण पूंजीपति वर्ग का हिस्सा है। अब "महासचिव" अजय सिन्हा अपने इस सफ़ेद झूठ बोलने के बाद रंगे हाथों पकड़े जाने पर कहते हैं कि लेनिन के अनुसार उत्पादन सम्बन्धों में धनी किसान पूंजीपति वर्ग है लेकिन वर्ग संघर्ष के ठोस मूल्यांकन के मसले में यह वर्ग पूंजीपति नहीं रहता है! और

इस प्रकार उत्पादन सम्बन्ध को गुणात्मक श्रेणी और वर्ग संघर्ष को मात्रात्मक श्रेणी में तब्दील कर हमारे पटना के दोन किहोते एक बार फिर साधू गोरेन्फ्लो वाले कर्मकाण्ड के द्वारा 'किसान बुर्जुआज़ी' को पूंजीपति वर्ग बताकर भी पूंजीपति नहीं बनने देते हैं!

3. अंत में *माटसाब* एक बार फिर श्रम-शक्ति के मुद्दे पर आते हैं। इसमें ऐसा लगता है कि उनका ज़ंग लगा कवच पवनचक्की के पंखों में फंस गया है और यह महोदय इसमें उलझकर गोल-गोल घूमकर तलवार भांज रहे हैं! हमारे *दोन किहोते दि ला पटना* शून्य के चारों ओर चक्कर काटते हैं और अपने सांचो पांज़ाओं की बच्चा पार्टी को इसे कुण्डलाकार गति बताते हैं! लेकिन सच तो यह है कि वह गोल-गोल ही घूम रहे हैं और हर चक्कर के बाद इनकी अवस्थिति ही बदल जाती है! समाजवाद में श्रमशक्ति को माल घोषित करने के प्रश्न पर यह जनाब बौद्धिक तौर पर फिर से नंगे ही हो गए हैं। **इस बार इन्होंने मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रति अपने निपट अज्ञानता की झांकी फिर निकालते हुए श्रमशक्ति के मूल्य को "श्रम के मूल्य" के समान बता दिया है और इसके बाद फिर से समाजवाद के अंतर्गत मज़दूरों को मिलने वाली उजरत को श्रम शक्ति का मूल्य घोषित कर दिया है!** इस प्रश्न पर भी *माटसाब* इतनी बुरी तरह से फँस चुके हैं कि बातें बदलने, कुतर्क करने और अनाप-शनाप बकने के अलावा इनके पास कोई और रास्ता नहीं बचा है। श्रम, मूल्य और श्रम शक्ति जैसी बुनियादी अवधारनाओं से लेकर राजनीतिक अर्थशास्त्र के हर अन्य मसले पर "महासचिव" अजय सिन्हा ने इस बार भी मार्क्सवादी समझदारी के प्रति अपनी पूर्ण अनभिज्ञता प्रदर्शित की है।

हम इन तीनों मसलों पर सिलसिलेवार ढंग से अपनी बात रहेंगे और पीआरसी के "महासचिव" अजय सिन्हा व "यथार्थवादी" मण्डली के अवसरवादी चरित्र को एक बार फिर परत-दर-परत उजागर करेंगे। इस बार के इनके लेखों को पढ़ते हुए मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि हमारे पटना के दोन किहोते में *सबएटॉमिक* कणों के गुण आ गए हैं। जैसे ही हम किसी भी प्रश्न पर उनकी मूर्खतापूर्ण अवस्थिति को इंगित कर आलोचना का प्रकाश उस पर डालते हैं वह मेंढक की तरह कुद्दियाँ मारकर अपनी अवस्थिति बदल लेते हैं! *सबएटॉमिक* कण का व्यवहार प्रेक्षण में ऐसा ही होता है। अगर उसका संवेग (momentum) पता चलता है तो अवस्थिति (position) नहीं पता चलती और अगर अवस्थिति पता चल जाती है तो संवेग पता नहीं चलता है। ***माटसाब* की नज़र में अक्तूबर क्रान्ति में धनी किसान-कुलक वर्ग सहयोगी हैं भी और नहीं भी, 'किसान बुर्जुआज़ी' पूंजीपति वर्ग है भी और नहीं भी, समाजवादी समाज में श्रमशक्ति माल है भी और नहीं भी! उनकी अवस्थिति श्रोडिंगर की बिल्ली की तरह मृत भी है और जीवित भी है!**

श्रोडिंगर सूक्ष्म जगत को स्थूल जगत में निरूपित कर इस काल्पनिक प्रयोग से *सबएटॉमिक* कणों के गुणों को उभारने की कोशिश करते हैं। प्रेक्षण के कारण सूक्ष्म जगत के कणों में ऐसा परिवर्तन आता है जिससे प्रेक्षण में संभाव्यता (probability) पैदा होती है। प्रेक्षण के कारण ही सूक्ष्म जगत के इन कणों में अनिश्चितता आ जाती है। प्राकृतिक विज्ञान की उपरोक्त अवधारणाओं से कोई वाक़िफ़ न भी हो तो भी उसे पता है कि सामाजिक व्यवहार में भी ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया निरपेक्ष तौर पर पूर्ण नहीं होती है क्योंकि एक तो समाज निरंतर परिवर्तनशील है, दूसरा, हमारा प्रेक्षण सीमित है और तीसरा, ख़ुद हमारे सामाजिक व्यवहार से भी समाज बदलता है। लेकिन अगर कोई ख़ुद को मार्क्सवादी कहे और अपनी ग़लत अवधारणा को चोरी-छिपे बदले और व्यवहार के आइने में नहीं बल्कि अपनी इज़्ज़त बचाने के लिए ऐसा करे तो उस व्यक्ति को बेईमान और अवसरवादी ही कहा जाएगा। ***माटसाब* ने बहस में अवसरवादिता की जो आंधी चलाई है इस वजह से ही ऐसा लगता है कि उनमें श्रोडिंगर की जीवित और मृत बिल्ली के गुण आ गए हैं। बिल्ली चाहे इनकी जीवित हो या मृत हम प्लेखानोव की राय मानते हुए हम कोड़े बरसाएंगे! 'यथार्थ' पत्रिका की यह बिल्ली तबसे कुलक ज्ञान पर म्याऊं-म्याऊं ही कर रही है!**

‘यथार्थ’/‘दि ट्रूथ’ पत्रिका के इर्द-गिर्द इकट्ठा हुआ बौड़म गिरोह एक ऐसी शंकर जी की बारात है जिसमें बौद्धिक बौनों का समूह सांचो पांज़ाओं की बच्चा पार्टी के साथ मिलकर पत्रिका के नाम पर कुलकगान का प्रसार कर रहा है और ये तमाम अपढ़ “मार्क्सवादी” मार्क्स से लेकर लेनिन तक की रचनाओं के नये मूर्खतापूर्ण मतलब गढ़ रहे हैं।

1. कुलकपरस्त ‘यथार्थ’ पत्रिका में रूसी क्रान्ति का इतिहास: *माटसाब* की नयी “ऐतिहासिक” बन्दरकुद्दियां

अब बकौल *माटसाब* अक्तूबर क्रान्ति में गाँवों में तीन वर्गों का ही संश्रय था और उनकी “समूची किसान आबादी” गयी तेल लेने!

माटसाब इस बार अपनी पुरानी अवस्थिति से यू-टर्न मारते हुए कहते हैं कि अक्तूबर क्रान्ति में गांव में भी तीन वर्गों का मोर्चा बना था, जिसका अर्थ यह है कि धनी किसान और कुलकों का वर्ग क्रान्ति का संश्रयकारी वर्ग नहीं था। **वह ऐसा क्यों कह रहे हैं और अपनी बात पूरी तरह बदल क्यों रहे हैं?** इसलिए क्योंकि हमने अपनी पिछली आलोचना में तफ़सील से दिखलाया था कि अक्तूबर क्रान्ति के समय कुलकों-धनी किसानों के साथ सर्वहारा वर्ग का कोई रणनीतिक मोर्चा नहीं बना था जैसा कि *दोन किहोते दि ला पटना* का दावा था और यह कि इन महोदय कि “समूची किसान आबादी” के हर-हमेशा समाजवादी क्रान्ति में साथ आने की कोरी लफ्फाज़ी न सिर्फ ऐतिहासिक रूप से *माटसाब* की कुलकपरस्त कपोल-कल्पना है बल्कि इसका मार्क्सवादी सिद्धान्त से भी दूर-दूर तक कोई लना-देना नहीं है। पाठकों को याद होगा कि अपनी इसी कुलकपरस्ती के कारण *माटसाब* और “यथार्थवादी” बौड़म मण्डली ने ‘किसान बुर्जुआज़ी’ को पूंजीपति वर्ग का हिस्सा नहीं बताया था और लेनिन के हवाले से हमारे द्वारा दिखलाया गया था कि ‘किसान बुर्जुआज़ी’ पूंजीपति वर्ग का हिस्सा ही है। अब चूंकि *माटसाब* अपने झूठों और कठदलीली के चक्रव्यूह में बाज़ाप्ता फँस गए हैं तो उन्होंने इस बार इसलिए ऐसा “ऐतिहासिक” यू-टर्न मारा है! क्योंकि *माटसाब* को एक तरफ तो कुलकों की गोद में भी बैठना है और उनका समर्थन करना है, तो दूसरी तरफ़ खुद को कम्युनिस्ट भी दिखाना है और इसलिए बताना है कि वह कुलकों-धनी किसानों के साथ कोई वर्ग संश्रय की वक़ालत नहीं कर रहे हैं।

इस अवसरवादिता और कुलकपरस्ती को मास्टरजी “लचीलापन” और “द्वंद्ववाद” का नाम देते हैं! अपनी राजनीतिक रीढ़ की हड्डी के इस लचीलेपन के चलते ही वह अपनी पोज़ीशन में तमाम विचारधारात्मक द्रविड-प्रणायाम कर बदलाव कर पाते हैं! इसलिए इस बार वह ‘यथार्थ’ के नए अंक में यह अवधारणा लेकर आए हैं कि रूस में अक्तूबर क्रान्ति में गाँवों में तात्कालिक तौर पर भी समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल ही मौजूद थी और रूस की विशिष्ट परिस्थितियों में कोई जनवादी कार्यभार सर्वहारा क्रान्ति को पहले पूरे नहीं करने थे। अब आप बस यह देखें कि यह बौद्धिक बौना किस प्रकार बन्दर की तरह अपनी एक अवस्थिति से दूसरी अवस्थिति पर छलांग मार रहा है!

‘यथार्थ’ के पुराने अंकों में *माटसाब* द्वारा प्रस्तुत अवस्थिति:

आप नीचे दिये गए उद्धरणों में धनी किसानों-कुलकों के प्रश्न पर पर 'यथार्थ' पत्रिका की पुरानी अवस्थिति देख सकते हैं:

''1917 के अक्टूबर में जो सर्वहारा क्रांति हुई वह किसान क्रांति पर सवार हो कर ही हुई, देहातों में बिना वर्ग-संघर्ष सम्पन्न हुए हुई और जिसमें सभी किसान यहां तक कि **कुलक भी इधर खड़े थे न कि उधर, यानी क्रांति के विरूद्ध।**'' **(**कॉर्पोरेट को लाल सलाम कहने की बेताबी में शोर मचाती 'महान मार्क्सवादी चिंतक' और 'पूंजी के अध्येता' की 'मार्क्सवादी मंडली' का घोर राजनैतिक पतन, 'यथार्थ')(*ज़ोर हमारा*)

और देखें:

''It is important to note that the peasants mass confiscation of land and property of Russian landed states was termed as peasant revolution by Lenin. **Lenin calls it final consummation of land question, the kernel of the bourgeois democratic revolution, by the proletarian revolution.** We have seen above how much importance Lenin ascribes to its combining with proletarian revolution for the easy victory of the proletariat over the proletariat in the struggle for power in the cities.'' (Apologists Are Just Short Of Saying "Red Salute To Corporates" [2nd Instalment], 'The Truth') *(ज़ोर हमारा)*

यह भी देखें:

''In short, the proletariat seized power together **with the peasants a whole** which didn't include erstwhile landlords and rural bourgeoise. They were to be expropriated forth with without delay and any compensation and the real proletarian revolution in the rural districts began only in the summer of the next year, almost eight months after seizing power in the cities. The true fact about it is that it was stirred and waged from above giving assistance to the poor peasants after realising that kulaks are grabbing most of the confiscated land and properties of the landed estates through the existing communes where they were in dominant position historically. This happens after eight months of assuming state power in the cities. Even then, expropriation of the kulaks was not on the immediate agenda of the party or the state as we have seen.''(Apologists Are Just Short Of Saying "Red Salute To Corporates" [2nd Instalment], 'The Truth')

बताते चलें कि मास्टरजी और "यथार्थवादी" मूर्ख टोली हाल तक धनी किसानों-कुलकों को पूंजीपति वर्ग का हिस्सा नहीं मानती थी और सर्वहारा का मित्र वर्ग मानती थी। इसलिए उपरोक्त उद्धरणों से यह साफ़ हैं कि उनके अनुसार कुलक-धनी किसान क्रान्ति में साथ खड़े थे और साथ ही इनके अनुसार गांवों में वर्ग संघर्ष नहीं हुआ था तथा सर्वहारा वर्ग ने गांवों में "समूची किसान आबादी" के साथ सत्ता हासिल की थी। यहाँ तक कि *माटसाब* ने पिछले अंक में यह भी कहा था कि ये सारी बातें सुनकर हमें ताज्जुब होगा! यक़ीन मानिए, उस वक़्त हमें थोड़ा आश्चर्य हुआ था कि कोई इतनी मूर्खतापूर्ण बात कैसे कर सकता है। लेकिन अब इस मूर्ख-मण्डली के द्वारा लिखा गया कुछ भी पढ़कर हमें अप्रत्याशित या अजीबोग़रीब नहीं लगता है। आख़िरकार "महासचिव" अजय सिन्हा और "यथार्थवादियों" की फ़ितरत ही है अनवरत बेसिर-पैर की बातें करना, हवा में कुतर्कों के तीर छोड़ना, बहस में परास्त होने पर बातें बदलना और फिर अचानक कोई नयी बात शुरू कर देना। अब मौजूदा अंक में धनी किसान-कुलक वर्ग के प्रश्न पर इनके बदले हुए अंदाज़ भी देख लेते हैं।

‘यथार्थ’ के नये अंक में *माटसाब* की अवस्थिति:

“हमारे अनुसार रूस में जनवादी कार्यभार को पूरा करने की दृष्टि से न तो समाजवादी क्रांति के चरण में कोई बदलाव लाया गया और न ही नया वर्ग-संश्रय ही बनाया गया। लेनिन किसानों के विद्रोह पर सर्वहारा क्रांति को सवार करने की नीति पर चले, न कि नया वर्ग-संश्रय कायम किया।” (“मार्क्सवादी चिंतक” की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], ‘यथार्थ’)

और देखें:

‘‘धनी किसानों के साथ इसलिए वर्ग-संश्रय नहीं कायम हो जाएगा कि वह कॉर्पोरेट के प्रति विरोध का भाव रखते हैं। धनी किसानों के साथ छोड़िये, समूचे मध्य वर्ग के साथ भी ऐसा कोई स्थायी वर्ग संश्रय कायम नहीं हो सकता है।’’ (“मार्क्सवादी चिंतक” की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], ‘यथार्थ’)

और भी देखें:

‘‘सर्वहारा के पक्ष में खुले तौर पर समाजवादी कृषि कार्यक्रम और अपने तरीके के राष्ट्रीयकरण की नीतियों के पीछे उन्हें लामबंद करने के काम को, **बिना समूची किसान आबादी यानी कुलकों आदि से वर्ग-संश्रय बनाये बिना ही,** मुल्तवी करते हैं, या कहें परिस्थितियों के आदेश को शिरोधार्य करते हें। दूसरे शब्दों में, किसानों के उक्त पूंजीवादी भूस्वामी विरोधी कार्रवाइयों व विद्रोहों की लहर के साथ सर्वहारा क्रांति की लहर को, **बिना क्रांति के चरण को जनवादी घोषित करते हुए और बिना वर्ग-संश्रय को बदले ही,** अनोखे रूप से मिला देते हैं।“ ([किसान आंदोलन] बिगुल मंडली के साथ स्पष्ट होते हमारे मतभेदों का सार, ‘यथार्थ’) (*ज़ोर हमारा*)

आप देख सकते हैं कि ‘यथार्थ’/‘दि ट्रूथ’ के पिछले अंकों में आये लेखों में *दोन किहोते दि ला पटना* बता रहे थे कि रूस में कुलक-धनी किसान वर्ग भी सर्वहारा क्रान्ति में साथ खड़े थे। पुराने लेखों में हमारे *माटसाब* “समूची किसान आबादी” की श्रेणी का भी बार-बार इस्तेमाल करके बताते हैं कि अक्तूबर क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग के साथ समूची किसान आबादी आई थी, जिसमें कि धनी किसान और कुलक भी शामिल थे और यह भी कि उस वक़्त गाँव में कोई वर्ग संघर्ष नहीं चला था। अब इन्होंने एकदम से यू-टर्न मारा है, हालांकि वह जो नयी बात कह रहे हैं, वह पहले से भी ज़्यादा मूर्खतापूर्ण है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

पाठकों को यह भी याद होगा कि धनी किसानों-कुलकों के वर्ग को क्रान्ति का मित्र वर्ग साबित करने के लिए ही पटना के दोन किहोते ने ‘किसान बुर्जुआज़ी’ की श्रेणी का भी प्रयोग किया था और बताया था कि यह कुलक-धनी किसान वर्ग वास्तव में ‘किसान बुर्जुआज़ी’ है, जोकि *माटसाब* के हिसाब से पूंजीपति वर्ग नहीं हैं। और चूंकि *माटसाब* के अनुसार यह धनी किसान-कुलक वर्ग पूंजीपति वर्ग नहीं है इसलिए वह इसे सर्वहारा क्रान्ति का मित्र और सहयोगी घोषित कर देते हैं।

हमने अपनी आलोचना में लेनिन को विस्तारपूर्वक उद्धृत करते हुए दिखलाया था कि 'किसान बुर्जुआज़ी' उद्यमी पूंजीवादी फार्मर है और ठीक इसलिए पूंजीपति वर्ग ही है और गाँव में ग्रामीण बुर्जुआ वर्ग का हिस्सा है और यह भी कि पटना के इस बौद्धिक बौने की लफ्फाज़ी का मार्क्सवाद-लेनिनवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है।

हमने यह भी बताया था कि समूची किसान आबादी समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में उस हद तक ही साथ आ सकती थी, जिस हद तक जनवादी कार्यभार पूरे किये जाने थे, जैसे कि रूसी क्रान्ति की विशिष्ट परिस्थितियों में हुआ था। लेकिन उस सूरत में भी, समूचा धनी किसान-कुलक वर्ग क्रान्ति का सहयोगी वर्ग नहीं था और गाँव में उसका एक हिस्सा शत्रुओं के समान ही बर्ताव कर रहा था। हमने यह भी बताया था कि अक्तूबर 1917 में रूस में हुई क्रान्ति एक ऐसी समाजवादी क्रान्ति थी जिसमें विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के चलते ग्रामीण क्षेत्र में मुख्य रूप से जनवादी कार्यभारों को ही पूरा किया गया था। अक्तूबर 1917 में हुई रूसी समाजवादी क्रान्ति में रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम को लागू किया गया जिसके पीछे तमाम वस्तुगत व मनोगत कारण मौजूद थे। इसका पूरा ऐतिहासिक सन्दर्भ पाठक हमारी पिछली आलोचना में पढ़ सकते हैं। लेकिन अब अपने मौजूदा लेख में पटना के दोन किहोते पैंतरापलट करते हैं और बताते हैं कि चूँकि रूसी क्रान्ति में गांव में भी समाजवादी क्रान्ति का ही चरण था इसलिए वर्ग संश्रय में भी कोई परिवर्तन नहीं किया गया, यानी कि अब *माटसाब* के अनुसार अक्तूबर क्रान्ति में तीन वर्गों का मोर्चा ही बना था और धनी किसान-कुलक वर्ग इस वर्ग संश्रय का हिस्सा नहीं था!

बहरहाल यह समझना ज़रूरी है कि "महासचिव" अजय सिन्हा और "यथार्थवादी" मण्डली ने अपनी पुरानी अवस्थिति में परिवर्तन क्यों किया है? दरअसल हुआ यह कि जब *माटसाब* ने बिना पढ़े कहीं से रूसी क्रान्ति में गांवों में सर्वहारा वर्ग के साथ समूची किसान आबादी के साथ आने की बात सुनी तो इन्होंने सोचा की यह तथ्य तो मेरी कुलकपरस्ती को और बल देगा और मुझे इसे वैध ठहराने का अच्छा मौक़ा हाथ लगा है! इसलिए *माटसाब* ने आव देखा न ताव "सिद्धान्त प्रतिपादन" की हवा छोड़ दी और अक्तूबर क्रान्ति में समूची किसान आबादी को साथ लेने के समीकरण को विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ से निरपेक्ष आम समीकरण बनाया और फिर धनी किसानों-कुलकों की दलाली करने को मौजूदा धनी किसान आंदोलन में एकमात्र "क्रान्तिकारी" हस्तक्षेप बताया। हालाँकि अक्तूबर क्रान्ति में *माटसाब* की समूची किसान आबादी के एक संश्रयकारी के तौर पर पूरी तरह साथ आने की बात भी बोगस थी जिसे हमने अपनी पिछली आलोचना में सप्रमाण व ससंदर्भ प्रस्तुत किया था।

हमने "महासचिव" अजय सिन्हा और "यथार्थवादी" बौद्धिक फ्रौडों के इन "सिद्धांतों" की विस्तारपूर्वक आलोचना रखी जिसके चलते ही उन्होंने अब अपनी "समूची किसान आबादी" को वर्ग संश्रय से बाहर कर दिया है। लेकिन ऐसे तीन-तिकड़मों के बाद अब इन बौद्धिक बौनों की अवस्थिति बेहद पेचीदा हो गई है क्योंकि अब इनके ही अनुसार धनी किसान वर्ग क्रान्ति के साथ भी था लेकिन वर्ग संश्रय का हिस्सा भी नहीं था! यह कारनामा कैसे अंजाम दिया गया था यह तो हमारे *माटसाब* ही बता सकते हैं क्योंकि इस तथ्य के एकमात्र ऐतिहासिक स्रोत वह ख़ुद ही हैं! ख़ुद *माटसाब* के अनुसार "1917 के अक्तूबर में जो सर्वहारा क्रांति हुई वह किसान क्रांति पर सवार हो कर ही हुई, देहातों में बिना वर्ग-संघर्ष संपन्न हुए हुई और जिसमें सभी किसान यहां तक कि कुलक भी इधर खड़े थे न कि उधर, यानी क्रांति के विरूद्ध।" लेकिन हमारी आलोचना के बाद अपने सुर बदलते हुए *दोन किहोते दि ला पटना* अब कहते हैं कि "सर्वहारा के पक्ष में खुले तौर पर समाजवादी कृषि कार्यक्रम और अपने तरीके के राष्ट्रीयकरण की नीतियों के पीछे उन्हें लामबंद करने के काम को, **बिना समूची किसान आबादी यानी कुलकों आदि से वर्ग-संश्रय बनाये बिना ही,** मुल्तवी करते हैं, या कहें परिस्थितियों के आदेश को शिरोधार्य करते हें।" अब *दोन किहोते दि ला पटना* के सांचो

पान्ज़ाओं की बच्चा पार्टी के लिए हमारी तरफ से एक पहेली: वे यह बताएं कि आख़िर कुलक और धनी किसान सर्वहारा क्रान्ति के दुश्मन थे या दोस्त थे?

हमारे *माटसाब* ऐसे में विश्वमित्र का रूप धर लेते हैं और इन कुलकों के वर्ग को एक तरफ़ अपने तपबल से सर्वहारा वर्ग के साथ क्रान्ति में साथ भी खड़ा करना चाहते हैं तो दूसरी तरफ़ आलोचना में पिटने के बाद बात बदलते हुए देवबल से कुलकों-धनी किसानों को सर्वहारा क्रान्ति के संश्रय में शामिल भी नहीं होने देना चाहते हैं! कुलक त्रिशंकु की तरह 'त्राहि-त्राहि' कर रहे हैं! इस कुलक-कष्ट से *माटसाब* को काफ़ी दुख पहुंचा है और इसलिए ही वह उन्हें वर्ग संश्रय और वर्ग शत्रुता की मोह-माया से भरी हुई इहलौकिक श्रेणियों से अलग कर देते हैं और उनके लिए एक नये पारलौकिक "यथार्थवादी" स्वर्ग की रचना करते हैं जहां वह शत्रुता और मित्रता के मायावी चक्कर से ही मुक्त हो जाते हैं! खैर, *माटसाब* की नयी अवस्थिति का खण्डन करने से पहले हम यहाँ अपनी पिछली आलोचना का वह हिस्सा रख रहे हैं जिसके कारण हमारे मास्टरजी अस्त-व्यस्त सी बन्दरकुद्दी मारने को विवश हुए हैं। हमने पिछले लेख में ही बताया था कि:

"रूस में अक्तूबर 1917 में समाजवादी क्रान्ति ने गांवों में, यानी खेती के क्षेत्र में, मुख्यत: जनवादी कार्यभार पूरे किये। **क्या पीआरसी के नेता महोदय का मानना है कि भारत की समाजवादी क्रान्ति को भी आज खेती में जनवादी कार्यभार पूरे करने हैं? क्या भारत की कुल आबादी में बहुसंख्या किसानों की है? आइये देखते हैं।**

"भारत में किसानों की कुल आबादी 11.8 करोड़ है, जिसमें से धनी व उच्च मध्यम किसान (4 हेक्टेयर से अधिक भूमि वाले) मात्र 5-6 प्रतिशत हैं। 2 हेक्टेयर से कम ज़मीन वाले किसान 92 प्रतिशत हैं और 1 हेक्टेयर से कम वाले किसान 72 प्रतिशत हैं, जिनकी स्थिति अब अर्द्धसर्वहारा की है और उनकी आय का मुख्य स्रोत अब खेती नहीं बल्कि मज़दूरी है। भारत में किसान आबादी का आकार और उसमें विभेदीकरण की स्थिति की अक्तूबर 1917 के रूस से कोई तुलना ही नहीं हो सकती है। मूलत: और मुख्यत: जनवादी कार्यभार पूरा करना तो दूर, आज जनवादी क्रान्ति का कोई कार्यभार भूमि कार्यक्रम के मामले में भारतीय समाजवादी क्रान्ति को नहीं पूरा करना है। चूंकि चरण ही अलग है इसलिए "समूची किसान आबादी" का आज सर्वहारा वर्ग के साथ मोर्चा बनने का कोई सवाल ही नहीं पैदा होता है और बन ही नहीं सकता है। जो ऐसा मानता है, उसे नवजनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम अपना लेना चाहिए। लेकिन पीआरसी के नेता महोदय की बुद्धि चुनौटी भर है और उसी के अनुसार उनकी कल्पना के मरियल खच्चर दौड़ते हैं। रूसी क्रान्ति के इतिहास के प्रति अपने निपट अज्ञान को इस बौद्धिक जोकर ने एक बार फिर से प्रदर्शित किया है।

"आज़ादी के बाद से लेकर अब तक भारत में पूंजीवादी वर्ग सम्बन्ध बेहद स्पष्ट हो चुके हैं और प्रशियाई पथ के एक भारतीय संस्करण से हुए भूमि सुधार भी पूर्णत: परिपक्व हो चुके हैं। रूस के मुक़ाबले भारत में वर्ग शक्तियों का संतुलन आज सर्वहारा क्रान्ति के कहीं ज़्यादा अनुकूल है। जनसांख्यिकी के लिहाज़ से भी आज भारत की कार्यशक्ति में 50 करोड़ से अधिक सर्वहारा आबादी है, जिनमें खेतिहर मज़दूर 14 करोड़ के करीब हैं और बाकी गैर-खेतिहर ग्रामीण व शहरी सर्वहारा हैं। **इन आंकड़ों की एक शताब्दी पहले के रूस से कोई तुलना ही संभव नहीं है।**

"भारत में आज समाजवादी क्रान्ति को गांवों में जनवादी भूमि कार्यक्रम लागू करने की कोई आवश्यकता नहीं है। भारत में समाजवादी क्रान्ति आज गांवों में धनी व उच्च मध्यम पूंजीवादी फार्मरों व कुलकों की ज़मीनों को ज़ब्त कर भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों की वर्ग शक्ति के बूते राजकीय व सामूहिक फार्मों की बड़े पैमाने पर स्थापना करने के कार्य

को सीधे हाथ में लेगी, ग़रीब किसानों व निम्न मध्यम किसानों को (जो कि पहले ही कहीं ज़्यादा विकसित विभेदीकरण व पूंजीवादी विकास के कारण अर्द्धसर्वहारा में तब्दील हो चुके हैं) आज सहकारी व सामूहिक फार्मों की साझी खेती के लिए तैयार करना कहीं ज़्यादा आसान है, क्योंकि उनकी पीढ़ियों की पीढ़ियां पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के मातहत परिपक्व हो चुकी हैं और देख चुकी हैं कि छोटी जोत की किसानी का कोई भविष्य नहीं है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण से लेकर तमाम आंकड़ों व सर्वेक्षणों में यह बात सामने आ चुकी है कि किसान आबादी का बहुलांश पक्के रोज़गार की आकांक्षा रखता है और पहला मौका मिलते छोटी जोत की खेती को छोड़ देना चाहता है। ज़ाहिर है कि जब तक रोज़गार का विकल्प उसके पास नहीं होगा, तब तक इस छोटी जोत से चिपके रहना उसकी बाध्यता बनी रहेगी, लेकिन यह भी साफ़ है कि ग़रीब मेहनतकश किसानों के समूचे वर्ग की इच्छा और आकांक्षा आज क्या है।

"संक्षेप में, आज भारत की समाजवादी क्रान्ति को समूची किसान आबादी को साथ लेकर मूलत: और मुख्यत: जनवादी कार्यभार पूर्ण नहीं करने हैं। रूसी क्रान्ति को विशिष्ट परिस्थितियों में जिन ऐतिहासिक सीमाओं का सामना करना पड़ा था, आज की नयी समाजवादी क्रान्तियों को उन सीमाओं का सामना नहीं करना है, हालांकि उनके सामने अलग राजनीतिक चुनौतियां हैं, जिन पर हम यहां विस्तार में नहीं जा सकते। **लेकिन *माटसाब* को बहस में हुई रगड़ाई के कारण अपनी पूंछ बचानी थी, इसलिए जल्दबाज़ी में उन्होंने बिना जांच–पड़ताल किये, बिना इतिहास का कोई संजीदा अध्ययन किये, कहीं का ईंट और कहीं का रोड़ा जोड़ दिया है। इसे बौद्धिक बौनापन ही कहा जा सकता है।**

"दूसरी बात यह कि बड़े इजारेदार पूंजीपति वर्ग और कुलक-धनी किसान वर्ग के बीच मित्रतापूर्ण अन्तरविरोध है, शत्रुतापूर्ण नहीं। यह उम्मीद करना कि उनके बीच अन्तरविरोध के तीखे होने की वजह से अपेक्षाकृत छोटी पूंजी का यह हिस्सा सर्वहारा वर्ग के साथ खड़ा होगा, वर्ग सहयोगवाद की कार्यदिशा है। ऐसा हो भी नहीं रहा है जैसा कि मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन के अभी तक के विकास-क्रम से साफ़ भी हो चुका है। इस लाइन के तहत तो पीआरसी के लेखक महोदय को दिल्ली में मायापुरी के छोटे फैक्ट्री मालिकों और पटना के भवन निर्माण ठेकेदारों को भी बड़ी इजारेदार पूंजी के प्रवेश से बचाने का ऐलान कर देना चाहिए और उनसे सर्वहारा क्रान्ति के लिए वर्ग मोर्चा बना लेना चाहिए! पूंजीपति वर्ग के किसी भी छोटे हिस्से और खेतिहर बुर्जुआज़ी के बीच कोई गुणात्मक अन्तर नहीं है। दोनों ही बड़ी इजारेदार पूंजी के प्रवेश के कारण बरबादी का ख़तरा झेल रहे हैं। **तो फिर *माटसाब* छोटे कारखाना मालिकों, ठेकेदारों, व्यापारियों के साथ पक्षपात क्यों कर रहे हैं? उन्हें जल्द से जल्द सर्वहारा क्रान्ति करने के लिए पटना के लघु उद्यमी संघ के अध्यक्ष या सचिव का चुनाव लड़ना चाहिए! प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के ख़िलाफ़ भी मास्टरजी को दिल्ली से पटना तक के व्यापारियों के साथ वर्ग मोर्चा स्थापित करना चाहिए जोकि बड़ी पूँजी द्वारा सताए हुए हैं। पटना के दोन किहोते अपेक्षाकृत छोटे खेतिहर पूंजीपति वर्ग पर जो फार्मुला लागू कर रहे हैं, उसे पूरे पूंजीपति वर्ग पर क्यों लागू नहीं किया जाना चाहिए?** उनके अनुसार, "बेहद, बेहद धनी किसानों" व कारपोरेटों से मोर्चा नहीं बनेगा लेकिन अन्य धनी किसानों, यानी अपेक्षाकृत छोटी बुर्जुआज़ी से बड़ी बुर्जुआज़ी के खिलाफ सर्वहारा वर्ग का मोर्चा बनेगा! वैसे तो अति-अति धनी किसान भी मौजूदा आन्दोलन में कारपोरेट के खिलाफ शामिल है। इसलिए *माटसाब* उनको क्यों *सिंगल आउट* कर रहे हैं, यह समझ से परे है। **खैर, फिर बड़ी इजारेदार पूंजी के प्रवेश से उजड़ रहे छोटे कारखाना मालिक, दुकानदारों–व्यापारियों, ठेकेदारों, दलालों से भी पीआरसी सीपीआई (एमएल) को मोर्चा क्यों नहीं बनाना चाहिए? आप देख सकते हैं कि इस प्रकार की कार्यदिशा कहां जाती है। यह सीधे–सीधे वर्ग सहयोगवाद और वर्ग आत्मसमर्पणवाद के मलकुण्ड में जाकर गिरती है और वास्तव में यह बौद्धिक मस्खरा उसी मलकुण्ड में छप–छप कर रहा है।" (**सनी, **पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय का**

नया जवाब या एक बातबदलू बौद्धिक बौने की बदहवास, बददिमाग़, बदज़ुबान बौखलाहट, बेवकूफियां और बड़बड़ाहट)"

लेकिन अपनी पुरानी अवस्थिति से पलटी मारने के बावजूद मास्टरजी अब भी वर्ग सहयोगवाद और वर्ग आत्मसमर्पणवाद के मलकुण्ड में ही गिरे पड़े हैं। वह समाजवादी क्रान्ति का नया वर्गीय समीकरण ढूंढ लाए हैं जिससे कि धनी किसानों को वर्ग संश्रय में साथ लेने की ज़रूरत भी नहीं पड़ती है और वह समाजवादी क्रान्ति में सहयोगी भी बने रहते हैं! यह कारनामा कुलक स्तुतिगायक यानी कि हमारे *माटसाब* गोरेन्फ्लो और विश्वामित्र का अजब संगम बन कर अंजाम देते हैं! आइए देखते हैं कि *माटसाब* ने इस बार कितने नये झूठ बोले हैं और कौन सी नयी कठदलीली पेश की है।

नयी अवस्थिति का सार: *दोन किहोते दि ला पटना* व "यथार्थवादियों" द्वारा अपनी कुलकपरस्ती को ढांपने की एक और बेशर्म कवायद

जैसा कि ऊपर *माटसाब* को उद्धृत करते हुए हमने बताया था कि अपने नए लेखों में इन्होंने कुलकों-धनी किसानों को सर्वहारा क्रान्ति का सहयोगी कहने वाली बात पर पलटी मारी है, हालाँकि इस प्रकार के "बौद्धिक" करतब दिखाने से हमारे बेचारे पटना के दोन किहोते का पूरा संतुलन ही गड़बड़ा गया है। उस पर तुर्रा यह कि कुलकपरस्ती की अपनी कुत्सित वर्ग सहयोगवादी अवस्थिति यह महाशय हम लोगों पर ही आरोपित कर रहे हैं! ऐसी ग़ज़ब की पैंतरेबाज़ी *दोन किहोते दि ला पटना* और उनकी "यथार्थवादी" मूर्ख मण्डली ही कर सकती है। पूरी बहस के दौरान इन कुलकप्रेमियों के मुखारबिंद से अपने राजनीतिक आकाओं यानी कि धनी किसानों और कुलकों के लिए एक आलोचनात्मक शब्द नहीं फूटा, और इस बेशर्म "बौद्धिक" ब्रिगेड की जुर्रत देखिये! हम *माटसाब* की बौखलाहट समझ सकते हैं! बहस में ठीक से पिट जाने का दर्द इनके लिए असहनीय हो चुका है और इसलिए अपने सांचा पान्ज़ाओं की छोटी सी बच्चा पार्टी को इस तरह की मनोरंजक बन्दरकुद्दियाँ मारकर उनका ध्यान अपनी रगड़ाई से भटकाना चाह रहे हैं लेकिन यह सब करते हुए वह किसी बौद्धिक जोकर से कम नहीं लग रहे हैं!

अपनी कुलकपरस्ती के चलते ठीक से रगड़ा जाने के बाद अब नए लेख में *दोन किहोते दि ला पटना* का कहना है कि अक्तूबर क्रान्ति में गांव में भी तात्कालिक तौर पर भी समाजवादी क्रान्ति का ही चरण था और वर्ग संश्रय भी तीन वर्गों का था जबकि पहले इन महोदय ने रूस की परिस्थितियों का हवाला देते हुए आज के भारत से उसकी तुलना की थी और कहा था कि यहाँ भी आज सर्वहारा क्रान्ति समूची किसान आबादी को साथ लेगी। जब हमने अपनी आलोचना में विस्तारपूर्वक बताया कि रूस की विशिष्ट परिस्थितियों की आज के भारत से कोई तुलना ही नहीं हो सकती है और रूस में मोटे तौर पर समूची किसान आबादी जनवादी कार्यभारों को पूरा करने की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण ही समाजवादी क्रान्ति के पहले दौर में साथ थी और प्रतिक्रान्ति का हिस्सा बनने वाले कुलकों के अतिरिक्त समूचे कुलक व धनी किसान वर्ग का ठीक इसीलिए सम्पत्तिहरण नहीं किया गया था, तो इन जनाब के बौद्धिक दिवालियापन के शिकार दिमाग़ को और कुछ नहीं सूझा और वह हम पर प्रत्यारोप लगाने पर उतर आये।

ज़ाहिरा तौर पर रूस में समाजवादी क्रान्ति की ही मंज़िल थी क्योंकि क्रान्ति की मंज़िल का निर्धारण राज्यसत्ता के चरित्र से होता है और चूंकि रूस में फरवरी क्रांति के साथ ही बुर्जुआ राज्यसत्ता क़ायम हो गयी थी इसलिए वहाँ समाजवादी क्रान्ति ही हो सकती थी। इससे कौन इनकार ही कर रहा है, जो *माटसाब* समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल की दुहाई दे रहे हैं! देखें हमने अपनी पिछली आलोचना में क्या लिखा था जिसे अँधेरे में छोड़े गए इस बार के इनके कुतर्कों के तीरों का खण्डन करने के लिए यहाँ दोहराना मात्र ही पर्याप्त है:

"अक्तूबर 1917 में रूस में हुई क्रान्ति एक ऐसी समाजवादी क्रान्ति थी जिसमें विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के चलते ग्रामीण क्षेत्र में मुख्य रूप से जनवादी कार्यभारों को ही पूरा किया गया था। अक्तूबर 1917 में हुई रूसी समाजवादी क्रान्ति में रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम को लागू किया गया जिसके पीछे तमाम वस्तुगत व मनोगत कारण मौजूद थे। *परन्तु मास्टरजी इस पूरे ऐतिहासिक सन्दर्भ को गोलकर जाते हैं और उपदेशात्मक शैली में बताते हैं कि आज भी ऐसी परिस्थितियां पैदा हो सकती हैं और इतिहास ख़ुद को दोहरा सकता है।* आइए तत्कालीन रूस और आज के भारत की तुलना करके देखते हैं कि क्या आज यह सम्भव है?

"रूस में प्रशियाई पथ से भूमि सुधार लागू हुए। इसकी शुरुआत 1860-61 में भूदास प्रथा के औपचारिक ख़ात्मे से हुई थी और 1907-08 के स्तोलिपिन सुधारों तक रूसी कृषि में पूँजीवादी विकास विचारणीय स्तर तक पहुँच चुका था। हालांकि अभी पूंजीवादी विकास के साथ बड़ी ज़मीन्दारी और सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध आंशिक रूप से क़ायम थे और अलग-अलग परिमाण में ग़रीब किसान आबादी की अस्वतन्त्रता भी अभी देखी जा सकती थी। रूसी क्रान्ति बेहद विशिष्ट परिस्थितियों में सम्पन्न हुई। प्रथम विश्वयुद्ध, आर्थिक विसंगठन और अकाल की परिस्थितियों और साथ ही सोवियत आन्दोलन के स्वत:स्फूर्त उभार के कारण पहले फरवरी 1917 में जनता के उभार ने ज़ार की सत्ता को उखाड़ फेंका और जनवादी क्रान्ति के कार्यभार को पूरा करने की शुरुआत की। लेकिन क्रान्तिकारी शक्तियों की कमज़ोरी के कारण सत्ता सोवियतों के हाथ में नहीं आ सकी और बुर्जुआ आरज़ी सरकार और सोवियतों की सत्ता के रूप में एक 'दोहरी सत्ता' (dual power) अस्तित्व में आई, जिसमें से आरज़ी सरकार बुर्जुआ वर्ग की तानाशाही का प्रतिनिधित्व कर रही थी, जबकि सोवियत सत्ता मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही का। बुर्जुआ आरज़ी सरकार में मुख्य शक्तियां बुर्जुआ व पेटी-बुर्जुआ पार्टियां थीं, जिनमें कैडेट पार्टी जैसी पूंजीवादी पार्टी के अलावा, मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारी (नरोदवादी) भी शामिल थे। इस आरज़ी सरकार ने युद्ध से मुक्ति, यानी शान्ति, रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधार, और भूख और अकाल से मुक्ति का वायदा पूरा नहीं किया और संविधान सभा तक इंतज़ार करने का झुनझुना व्यापक किसान आबादी और मज़दूर व सैनिक आबादी को थमा दिया। इस मामले में सबसे बड़ा विश्वासघात समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी ने किया जो कि एक रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम पेश तो कर रही थी, लेकिन किसानों द्वारा उसे लागू किये जाने का विरोध कर रही थी। वहीं युद्ध में रूस की भागीदारी रूसी समाज और अर्थव्यवस्था के लिए विनाशकारी साबित होती जा रही थी।

"बोल्शेविकों का गांवों की ग़रीब और मंझोली किसान आबादी में राजनीतिक आधार बेहद सीमित था। किसान आबादी में सबसे ज़्यादा आधार समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी का था और उसका कार्यक्रम एक रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधार का था, जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया है। 'अप्रैल थीसिस' में लेनिन ने स्पष्ट किया कि रूस फरवरी 1917 की जनवादी क्रान्ति के बाद अब समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में है, हालांकि इस क्रान्ति को कई जनवादी कार्यभार पूरे करने होंगे और पहला कार्य होगा 'समाजवाद की ओर कुछ कदम' बढ़ाकर रूस को सिर पर खड़े आर्थिक विनाश और आपदा से बचाना। अब समाजवादी क्रान्ति ही अपूर्ण जनवादी क्रान्ति को भी बचा सकती थी और समाजवाद की ओर कुछ आरंभिक कदम के साथ समाजवादी व्यवस्था के निर्माण की शुरुआत भी कर सकती थी, अन्यथा उसका भी गला घोंट दिया जाना तय था, जैसा कि कोर्निलोव मसले से सिद्ध हो गया था।

"इसी बीच दो स्वत:स्फूर्त आन्दोलन रूस में उभर चुके थे: पहला था समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी द्वारा बनाई गई भूमि समितियों का आन्दोलन जो कि समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी के ही निर्देश का उल्लंघन करते हुए ज़मीन को भूस्वामियों से छीन रहा था और किसानों के बीच बांट रहा था; और दूसरा, कारखाना समिति आन्दोलन जो कि

कारखानों पर कब्ज़ा कर रहा था। लेनिन ने इन दोनों ही आन्दोलनों को रूस की क्रान्ति की तात्विक शक्ति बताते हुए सहयोजित किया। लेनिन ने भूमि समितियों के आन्दोलन को साथ लेने के साथ समाजवादी-क्रान्तिकारियों का भूमि कार्यक्रम अपना लिया, जिसे कि समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी खुद ही लागू करने में आनाकानी कर रही थी और संविधान सभा का इन्तज़ार करने का आश्वासन किसानों को दे रही थी। लेनिन पर कुछ लोगों ने आरोप लगाया कि उन्होंने समाजवादी कृषि कार्यक्रम को छोड़कर समाजवादी-क्रान्तिकारियों का बुर्जुआ कार्यक्रम अपना लिया। लेनिन ने इसका जवाब दिया कि रूस की आबादी का 85 प्रतिशत किसान हैं और 85 फीसदी आबादी पर समाजवादी भूमि कार्यक्रम थोपा नहीं जा सकता है; दूसरी बात, किसान आबादी में बोल्शेविकों का आधार बेहद कम है जिसके कारण आर्थिक वर्गीय विभेदीकरण के बावजूद ग़रीब व मंझोले किसान धनी किसानों के ही राजनीतिक नेतृत्व में हैं; तीसरी बात, किसानों में ज़मीन की भूख क्रमिक व अपूर्ण पूंजीवादी रूपान्तरण के कारण बनी हुई है और उनके जनवादी आन्दोलन को सहयोजित करके ही रूस की जनवादी क्रान्ति को भी हत्या से बचाया जा सकता है, पूर्णता तक पहुंचाया जा सकता है और समाजवादी क्रान्ति की शुरुआत की जा सकती है; चौथी बात, रूस के मेहनतकश किसानों द्वारा जो भूमि कार्यक्रम पेश किया जा रहा था वह बुर्जुआ जनवादी भूमि कार्यक्रम के दायरे में होने के बावजूद, बोल्शेविकों के भूमि कार्यक्रम के नज़दीक पड़ता था क्योंकि यह भूमि के राष्ट्रीकरण और उजरती श्रम पर रोक की मांग भी कर रहा था" (सनी, **पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय का नया जवाब या एक बातबदलू बौद्धिक बौने की बदहवास, बददिमाग़, बदज़ुबान बौखलाहट, बेवकूफियां और बड़बड़ाहट)"**

यह है वह पूरा विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ जिसमें रूस की समाजवादी क्रान्ति को तात्कालिक तौर पर जनवादी कार्यभार पूरे करने पड़े थे। इससे क्रान्ति की मंज़िल नहीं बदल गयी थी, *माटसाब!* न ही इस बहस में ऐसा किसी ने कहा। लेकिन तात्कालिक तौर पर जनवादी कार्यभारों को पूरा करने के चलते खेती में समाजवादी कार्यक्रम नहीं लागू किया गया था। अगर अक्तूबर क्रान्ति के समय रूस में गाँवों में कोई विशिष्ट परिस्थितियां मौजूद ही नहीं थी जिसके कारण बोल्शेविक पार्टी को समाजवादी-क्रान्तिकारियों का कार्यक्रम तात्कालिक तौर पर अपनाना पड़ा था और पहले जनवादी कार्यभारों को पूर्ण करना पड़ा था तो फिर *माटसाब* ने "समूची किसान आबादी" का जुमला फेंका ही क्यों था?

दरअसल हमारी आलोचना के बाद उन्हें समझ में तो आ गया है कि समकालीन भारत की क्रान्तिकालीन रूस से तुलना करके वह फँस गए हैं तो अब कठदलीली और अपनी बात बदलने के अलावा बेचारे दोन किहोते महोदय और कर भी क्या सकते हैं? ईमानदारी से अपनी ग़लती मान लेने की उम्मीद इस बेईमान बौद्धिक बौने से तो नहीं की जा सकती है।

अगर गाँव में कोई जनवादी कार्यभार पूरा ही नहीं होना था तो इसका मतलब है कि तात्कालिक तौर पर भी गाँवों में भी समाजवादी क्रांति का कार्यक्रम ही लागू होना चाहिए था। तो फिर सामूहिकीकरण 1917 से ही क्यों नहीं शुरू कर दिया गया? क्यों क्रान्ति के तत्काल बाद भी राजकीय फार्मों की संख्या नगण्य थी? *माटसाब* की कुलकपरस्त भोंडी देसी बुखारिनपंथी लाइन ने उनके दिमाग़ में विचित्र घोल-मट्ठा तैयार कर दिया है! हम पहले ही बता चुके हैं कि वह पवनचक्की के पंखे में उलझकर गोल-गोल घूमे जा रहे हैं! इसलिए उनकी बातों और कुतर्कों में कोई सामंजस्य नहीं होता है, बल्कि अक्सर *माटसाब* अपने ही पिछले कुतर्कों के ठीक विपरीत बात कर रहे होते हैं और बेहद अंतरविरोधी तरीक़े से अपनी द्वारा बोली गयी बातें काट रहे होते हैं। इसका एक नमूना आप नीचे देख सकते हैं:

"रूस की बात करें तो, वहां ऊपर के राजकीय सुधारों के द्वारा पूर्व के सामंती भूस्वामियों से परिवर्तित बड़े पूंजीवादी भूस्वामियों के रूप में एक साझा दुश्मन के विरूद्ध लड़ाई की पूर्णाहुति तक ही सर्वहारा क्रांति सीमित थी। **जिस हद तक यह साझा दुश्मन यानी भूस्वामी पूंजीवादी बन चुका था उस हद तक रूस के देहातों में हुई अक्तूबर क्रांति समाजवादी ही थी, लेकिन दूसरी तरफ जिस हद तक कुलकों को निशाना नहीं बनाया गया उस हद तक देहातों में अक्टूबर क्रांति जनवादी बनी रही**। कुल मिलाकर रूस में अक्तूबर क्रांति फरवरी में हुई जनवादी क्रांति का पूर्ण समापन (consummation) बनी लेकिन कहीं से भी यह संपूर्णता में नवजनवादी क्रांति नहीं थी। देहातों में गरीब किसानों के बीच भी बड़े पैमाने की खेती के प्रति आश्वस्त समर्थन के अभाव के साथ इसके लिए जरूरी भौतिक प्रगति की मौजूदगी न होने की वजह से एकमात्र एक दशक बाद ही जाकर (1929-30 में) शुरू हुए सामूहिक फार्म आंदोलन की जीत के बाद समाजवादी कृषि कार्यक्रम लागू किया जा सका।" ([किसान आंदोलन] बिगुल मंडली के साथ स्पष्ट होते हमारे मतभेदों का सार, 'यथार्थ')(*ज़ोर हमारा*)

माटसाब क्रान्ति की मंज़िल को लेकर इतनी सफ़ाई क्यों दे रहे हैं, अब हमारी समझ में आया! हमने "महासचिव" अजय सिन्हा को उनकी कुलकपरस्ती की वजह से जनवादी कार्यक्रम अपनाने की सलाह दी थी और यह भी कहा था कि उन्हें या फिर यह मान लेना चाहिए कि अक्तूबर क्रान्ति के ही समान आज के भारत में भी समाजवादी क्रान्ति कृषि के क्षेत्र में रैडिकल बुर्जुआ जनवादी कार्यक्रम को पूरा करने तक सीमित रहेगी, जिसका निशाना सामन्ती भूस्वामी वर्ग था, तो मास्टरजी को लगा कि 'ओह! अब तो क्रान्ति का कार्यक्रम ही बदल डालना होगा या एक समान्ती भूस्वामी वर्ग तलाशना होगा!' चूंकि भारत में आज उन्हें यह सामन्ती भूस्वामी वर्ग कहीं मिलेगा नहीं तो *माटसाब* घबराये-घबराये से घूम रहे हैं और इसलिए बार-बार समाजवादी क्रान्ति-समाजवादी क्रान्ति कर रहे हैं। अरे मूर्खाधिराज! रूस की क्रान्ति समाजवादी ही थी, घबराइए मत! लेनिन आपकी तरह कुलकपरस्त नहीं थे। वे जानते थे कि रूस की विशिष्ट परिस्थितियों के चलते ही वहाँ समाजवादी क्रान्ति को ही कई जनवादी कार्यभार भी पूरे करने पड़ेंगे वर्ना क्रान्ति को अंजाम देना और टिका पाना भी मुश्किल होगा। लेकिन इन सबके चलते क्रान्ति की मंजिल जनवादी क्रान्ति की नहीं हो जाती है।

दूसरे, आज भारत में रूस के समान कोई ऐसी विशिष्ट परिस्थितियां मौजूद नहीं है कि यहाँ समाजवादी क्रान्ति को उस क़िस्म के और उतने जनवादी कार्यभार पूरे करने होंगे; भारत में गाँवों में भी मुख्यतः और मूलतः जनवादी कार्यभार पूरे हो चुके हैं, जैसा कि हमारे उपरोक्त उद्धरण में भी विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया गया था। खैर, *माटसाब* के कल्पना लोक में क्या गड़बड़झाला चला रहा है चूंकि उसकी कोई तार्किक व्याख्या, सिवाय उनकी कुलकपरस्ती के, संभव नहीं है, इसलिए बेहतर है कि हम देखें कि लेनिन की इस सवाल पर क्या राय थी।

लेनिन ने बार-बार यह स्पष्ट किया था कि अक्तूबर क्रान्ति ने भूमि सम्बन्धों के क्षेत्र में जनवादी कार्यभारों को पूर्ण किया था, जिसमें कि समूची किसान आबादी को साथ लेना स्वाभाविक था, और उसके बाद ग़रीब किसानों, मंझोले किसानों को धनी फार्मरों व कुलकों से अलग कर समाजवादी क्रान्ति को भूमि सम्बन्धों के क्षेत्र में अंजाम दिया जाना था। लेनिन '**सर्वहारा क्रान्ति और ग़द्दार काऊत्स्की**' में लिखते हैं:

“It is the alliance between the proletariat and the peasants *in general* that reveals the bourgeois character of the revolution, for the peasants in general are small producers who exist on the basis of commodity production. Further, the Bolsheviks then added, the proletariat will win over *the entire semi-proletariat* (all the working and exploited people), will neutralise the middle peasants and *overthrow* the bourgeoisie; this will be a socialist revolution, as distinct from a bourgeois-democratic revolution.

“**Having *completed* the bourgeois-democratic revolution** in alliance with *the peasants as a whole*, the Russian proletariat finally passed on to the socialist revolution when it succeeded in **splitting the rural population, in winning over the rural proletarians and semi-proletarians, and in uniting them against the kulaks and the bourgeoisie, including the peasant bourgeoisie.”** (Lenin, **The Proletarian Revolution and Renegade Kautsky,** *emphasis ours*)

जैसा कि पाठक देख सकते हैं, लेनिन स्वयं ही एकदम स्पष्ट कर देते हैं कि रूस में अक्तूबर क्रान्ति द्वारा गांव में पहले जनवादी कार्यभारों को पूर्ण किया गया और उसके बाद ही समाजवादी कार्यक्रम लागू करने की शुरूआत हुई। क्या यह स्पष्ट नहीं कि “महासचिव” अजय सिन्हा अब साफ़ झूठ बोलने पर आमादा हैं और एक बार फिर सोवियत समाजवाद के इतिहास का विकृतिकरण कर रहे हैं? लेनिन स्पष्ट करते हैं कि समूची किसान आबादी को साथ लेने के लिए बोल्शेविकों ने समाजवादी-क्रान्तिकारियों के कार्यक्रम के कुछ हिस्सों को अपना लिया था:

“**We showed how we achieve it on October 26, 1917, when we took that part of the programme of the Socialist-Revolutionaries which supports the peasants and put it into operation in full.** In that way we showed that the peasant who had been exploited by the landowners, who lives by his own labour and does not profiteer, finds a true protector in the worker sent to him by the central state authority. In this way we have effected concord with the peasants.” (Lenin, **Seventh All-Russia Congress of Soviets**)

पुन: लेनिन गांवों में क्रान्ति का तात्कालिक कार्यक्रम स्पष्ट करते हुए लिखते हैं:

‘‘**In October 1917 we seized power together with the peasants as a whole. *<u>This was a bourgeois revolution</u>*, inasmuch as the class struggle in the rural districts had not yet developed.** As I have said, the real proletarian revolution in the rural districts began only in the summer of 1918. Had we not succeeded in stirring up this revolution our work would have been incomplete. **The first stage was the seizure of power in the cities and the establishment of the Soviet form of government. The second stage was one which is fundamental for all socialists and without which socialists are not socialists, namely, to single out the proletarian and semi-proletarian elements in the rural districts and to ally them to the urban proletariat in order to wage the struggle against the bourgeoisie in the countryside. This stage is also in the main completed.** The organisations we originally created for this purpose, the Poor Peasants’ Committees, had become so consolidated that we found it possible to replace them by properly elected Soviets, i.e., to reorganise the village Soviets so as to make them the organs of class rule, the organs of proletarian power in the rural districts. Such measures as the law on socialist land settlement and the measures for the transition to socialist farming, which was passed not very long ago by the Central Executive Committee and with which everybody is, of course, familiar, sum up our experience from the point of view of our proletarian revolution.’’ (Lenin, **Eighth Congress of the R.C.P.(B.),** *emphasis ours*)

अक्तूबर क्रान्ति से ठीक पहले भी लेनिन ने इस अवस्थिति को पेश किया:

“At the present time the national and agrarian questions are fundamental questions for the petty-bourgeois sections of the population of Russia. This is indisputable. And on both these

questions the proletariat is "*not* isolated" — farther from it than ever. It has the majority of the people behind it. It *alone* is capable of pursuing such a determined, genuinely "revolutionary-democratic" policy on both questions which would immediately ensure the proletarian state power not only the support of the majority of the population, but also a real outburst of revolutionary enthusiasm among the people. This is because, for the first time, the people would not see the ruthless oppression of peasants by landowners and of Ukrainians by Great Russians on the part of the government, as was the case under tsarism, nor the effort to continue the same policy camouflaged in pompous phrases under the republic, nor nagging, insult, chicanery, procrastination, underhand dealing and evasions (all that with which Kerensky rewards the peasants and the oppressed nations), but would receive warm sympathy proved by deeds, immediate and revolutionary measures against the landowners, immediate restitution of *full* freedom for Finland, the Ukraine, Byelorussia, for the Moslems, and so on." (Lenin, **Can the Bolsheviks Retain State Power?**)

लेनिन इस प्रश्न पर साफ़ नज़रिया रखते हैं तथा अक्तूबर क्रान्ति में गांव में बने वर्ग संश्रय को भी स्पष्ट करते हैं:

"**रूस में बुर्जुआ वर्ग की पराजय के बाद बड़े किसानों के विरुद्ध सर्वहारा के संघर्ष को जटिल बनाने और धीमा करने वाली विशेष परिस्थितियाँ, मुख्य रूप से, निम्नलिखित थीं: 25 अक्टूबर (7 नवम्बर) 1917 के बाद रूसी क्रान्ति ने "आम जनवादी" मंज़िल को पार कर लिया – यानी मूलतः समग्र किसान समुदाय द्वारा भूस्वामियों के विरुद्ध बुर्जुआ जनवादी संघर्ष, शहरी सर्वहारा की सांस्कृतिक और संख्यात्मक कमज़ोरी; और अन्त में, बहुत अधिक दूरियाँ और संचार के बहुत ख़राब साधन।** चूँकि उन्नत देशों में संघर्ष को धीमा करने वाली ये स्थितियाँ मौजूद नहीं हैं, इसलिए यूरोप और अमेरिका के क्रान्तिकारी सर्वहारा को अधिक ऊर्जस्वी ढंग से तैयारी करनी चाहिए, **और बड़े किसानों के प्रतिरोध पर पूर्ण विजय ज़्यादा तेज़ी, दृढ़ता और सफ़लता के साथ हासिल करनी चाहिए। यह अनिवार्य है क्योंकि, जब तक ऐसी पूर्ण विजय हासिल नहीं होती, तब तक ग्रामीण सर्वहाराओं, अर्द्धसर्वहाराओं और छोटे किसानों का जनसमुदाय सर्वहारा राज्य को पूरी तरह स्थिर राज्य के रूप में स्वीकार्य नहीं करेगा।**" (लेनिन, **'भूमि-प्रश्न पर प्रारम्भिक मसविदा थीसिस'**)

साफ़ है कि पटना के दोन किहोते महोदय अपनी वर्ग सहयोगवादी लाइन के लिए रूसी क्रान्ति के इतिहास को तोड़-मरोड़ रहे हैं। *माटसाब* ने 'अप्रैल थीसिस' के प्रश्न पर भी भ्रम फैलाने का काम किया है। वह कहते हैं कि लेनिन ने 'अप्रैल थीसिस' में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि क्रान्ति समाजवादी क्रान्ति होगी और हम पर यह आरोप मढ़ते हैं कि हमारे अनुसार लेनिन 'अप्रैल थीसिस' में ही गांव में जनवादी क्रान्ति की अवधारणा पेश करते हैं। देखें *माटसाब* क्या लिखते हैं:

"कुल मिलाकर कुछ इस तरह की तस्वीर उभरती है *जिसमें मानो अप्रैल से ही नये वर्ग-संश्रय की नीति कायम कर ली गई थी और भूमि समितियों के जमीन दखल और शहरों में कारखाना दखल के स्वत:स्फूर्त आंदोलन तेज हुए तो इस नीति के तहत दोनों आंदोलनों को तात्विक शक्ति मानते हुए एक साथ सहयोजित कर लिया गया। यानी पहले से ही वर्ग संश्रय की नीति कायम थी और उचित अवसर आने पर लेनिन ने उसे जमीन पर उतार दिया।* यह सुनने में ही भद्दा मालूम पड़ता है। इतना ही कहा जा सकता है कि यह प्रस्तुतिकरण गलत है।" ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

जिस किसी ने भी हमारी पिछली आलोचना पढ़ी होगी वह बता सकता है कि हमारे "प्रस्तुतीकरण" में ऐसा कुछ "प्रतीत" नहीं होता है, जैसा कि *माटसाब* को हो रहा है। वैसे उनको कुछ-कुछ "प्रतीत" होता रहता है! हमने ऐसी कोई बात कहीं नहीं कही कि अप्रैल में ही लेनिन ने नये वर्ग संश्रय की नीति क़ायम कर ली थी! हमने न ऐसी कोई तस्वीर पेश की और न ही ऐसा कुछ कहा है। *माटसाब* को कुछ नहीं सूझा तो लगे "प्रस्तुतिकरण" के अपने प्रतीति-बोध को प्रस्तुत करने! अप्रैल से सितम्बर में जाकर ही लेनिन समाजवादी-क्रान्तिकारियों के कार्यक्रम को अपना लेते हैं। 'अप्रैल थीसिस' में लेनिन यह कहते हैं कि रूस में जो विशिष्ट परिस्थिति पैदा हुई है उसमें अब समाजवादी क्रान्ति ही अपूर्ण जनवादी क्रान्ति को भी बचा सकती थी और पूरा कर सकती थी, जैसा कि बाद में कोर्निलोव मसले में सिद्ध हुआ।

लेकिन *माटसाब* अपनी अपढ़ता और अवसरवाद छिपाने के लिए इस तथ्य को गोल करना चाहते हैं कि लेनिन ने समाजवादी-क्रान्तिकारियों का भूमि कार्यक्रम स्वीकार किया था। और यह भी इसलिए हो पाया क्योंकि उस वक़्त समूची किसान आबादी का दुश्मन, लेनिन के अनुसार ही, सामन्ती भूस्वामी वर्ग था। **इस पूरे ऐतिहासिक सन्दर्भ को गोलकर "महासचिव" अजय सिन्हा और "यथार्थवादी" कुलकपरस्तों की मण्डली रूसी क्रान्ति की इन विशिष्ट परिस्थितियों के चलते समूची किसान आबादी को क्रान्ति में साथ लिए जाने के तात्कालिक क़दम को समाजवादी क्रान्ति की आम रणनीति में तब्दील करना चाहते हैं ताकि भारत के मौजूदा कुलकों-धनी किसानों की दलाली कर सकें और उनकी पालकी ढो सकें।**

अब चलिए हम वह अंश देखते हैं जिसमें हमने 'अप्रैल थीसिस' के बारे में अपने पिछले लेख में लिखा था, इसे हमने ऊपर भी एक लम्बे उद्धरण के साथ दिया है। यह देखें:

"'अप्रैल थीसिस' में लेनिन ने स्पष्ट किया कि रूस फरवरी 1917 की जनवादी क्रान्ति के बाद अब समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में है, हालांकि इस क्रान्ति को कई जनवादी कार्यभार पूरे करने होंगे और पहला कार्य होगा 'समाजवाद की ओर कुछ कदम' बढ़ाकर रूस को सिर पर खड़े आर्थिक विनाश और आपदा से बचाना। अब समाजवादी क्रान्ति ही अपूर्ण जनवादी क्रान्ति को भी बचा सकती थी और समाजवाद की ओर कुछ आरंभिक कदम के साथ समाजवादी व्यवस्था के निर्माण की शुरुआत भी कर सकती थी, अन्यथा उसका भी गला घोंट दिया जाना तय था, जैसा कि कोर्निलोव मसले से सिद्ध हो गया था।" **(सनी, पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय का नया जवाब या एक बातबदलू बौद्धिक बौने की बदहवास, बददिमाग़, बदज़ुबान बौखलाहट, बेवकूफियां और बड़बड़ाहट,)**

आप देख सकते हैं कि इस प्रश्न पर लेनिन का रुख वही है जो हमने इंगित किया है। लेनिन कहते हैं:

"I am deeply convinced that the Soviets will make the independent activity of the *masses* a reality more quickly and effectively than will a parliamentary republic (I shall compare the two types of states in greater detail in another letter). **They will more effectively, more practically and more correctly decide what *steps* can be taken towards socialism and how these steps should be taken.** Control over abank, the merging of all banks into one, is *not yet* socialism, but it is *a step towards* socialism. Today such steps are being taken in Germany by the Junkers and the bourgeoisie against the people. Tomorrow the Soviet will be able to take these steps more effectively for the benefit of the people if the whole state power is in its hands.

"What *compels* such steps?

"Famine. Economic disorganisation. Imminent collapse. The horrors of war. The horrors of the wounds inflicted on mankind by the war." (Lenin, **Letters on Tactics**)

लेकिन *माटसाब* को यहां लेनिन के कथन से कोई मतलब नहीं है। उन्हें तो बस अपनी बच्चा पार्टी को दिखाना है कि वह भी मार्क्स और लेनिन को उद्धृत कर सकते हैं!

माटसाब आगे पूछते हैं कि अगर रूस में भूमि सुधार परिपक्व नहीं हुआ था तो लेनिन ने समाजवादी क्रान्ति की घोषणा क्यों कर दी थी? ग़ौरतलब है कि ठीक यही हमला काउत्स्की ने भी बोल्शेविक पार्टी और लेनिन पर किया था जब उसने अक्तूबर क्रान्ति को जनवादी क्रान्ति क़रार दिया था। *माटसाब* काउत्स्की की तरह पूछते हैं:

"अगर भूमि सुधार भी परिपक्व नहीं हुआ था (हालांकि वह अन्य जगह लिख चुके हैं कि वहां तो इतनी विकसित पूंजीवादी खेती थी कि उसमें कॉर्पोरेट पूंजी का प्रवेश हो चुका था), अगर वहां के लगभग भूस्वामी 1917 के अक्टूबर में भी सामंती ही बने हुए थे (ऐसा लगता है कि वह कृषि में प्रशियन विधि और युंकर शैली के पूंजीवादी विकास को भी अपनी विशिष्ट शैली में ही समझते हैं), कृषि में पूंजीवादी विकास भी परिपक्व नहीं हुआ था और बोल्शेविकों का देहातों में आधार भी नहीं था, और अगर ये ही नया वर्ग-संश्रय कायम करने के मुख्य कारण थे, तो लेनिन को ये बातें तो पता थीं फिर उन्होंने क्यों अप्रैल में समाजवादी क्रांति के चरण को पूरा करने के लिए तैयारियों की घोषणा की?" ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

कभी-कभी तो अपनी आँखों पर यक़ीन नहीं होता है कि किस तरह के मूर्खतापूर्ण सवाल इस व्यक्ति के दिमाग़ में आते हैं! कोई मार्क्सवाद और सोवियत समाजवाद के इतिहास से पूरी तरह अनभिज्ञ आदमी ही ऐसे बचकाने और हास्यास्पद सवाल पूछ सकता है। ऊपर से दिक्क़त यह है कि पटना के इस "बौद्धिक" धुरन्धर को यह गुमान भी है कि इसने सवाल के रूप में क्या हीरा ढूँढ कर निकाला है! हम पहले भी कई बार दोहरा चुके हैं कि हर प्रकार की विजातीय प्रवित्तियां जो कम्युनिस्ट आन्दोलन में कभी भी विद्यमान रही हैं वे सब पटना के दोन किहोते के चरित्र में आकर समाहित हो गयी हैं; चाहे बुखारिनपन्थ हो, त्रॉत्स्कीपन्थ हो या फिर काउत्स्कीपन्थ हो! बस फर्क इतना है कि *माटसाब* इन सभी प्रवृत्तियों के नियायती भोंडे देसी संस्करण हैं!

हमने पिछले लेख में तथ्यों के साथ यह दिखाया था कि किस प्रकार रूस की खेती में बड़ी इजारेदार पूंजी का प्रवेश हो रहा था। मास्टरजी का झूठ पकड़ा गया तो वह तंज कसते हुए बोलते हैं कि सामन्ती भूस्वामियों की मौजूदगी में बड़ी इजारेदार पूंजी का प्रवेश कैसे हो सकता है? इसका जवाब लेनिन ने ही अपने समय में दे दिया था:

"America provides the most graphic confirmation of the truth emphasized by Marx in *Capital*, Volume III, that capitalism in agriculture does not depend on the form of land ownership or land tenure. **Capital finds the most diverse types of medieval and patriarchal landed property—feudal, "peasant allotments" (i.e., the holdings of bonded peasants); clan, communal, state, and other forms of land ownership. Capital takes hold of all these, employing a variety of ways and methods.**

…

"Remember Marx's *Capital*. In it you will find references to the extreme variety of forms of land ownership, such as feudal, clan, communal (and primitive-squatter), state, etc., which capitalism encounters when it makes its appearance on the historical scene. **Capital subordinates to itself all**

these varied forms of land ownership and remolds them after its own fashion, and if one is to understand, evaluate and express this process in statistical terms, one must learn to modify the formulation of the question and the methods of investigation in accordance with the changing *form* of the process. **Capitalism subordinates to itself all these forms of land ownership: communal-allotment holdings in Russia; squatter tracts or holdings regulated by free distribution in a democratic or a feudal state, as in Siberia or the American Far West; the slave-holding estates in the American South, and the semi-feudal landholdings of the "purely Russian" gubernias.** In all these cases, the development and victory of capitalism is similar, though not identical in form." (Lenin, **New Data on the Laws Governing the Development of Capitalism in Agriculture**)

तो *माटसाब* आपने देख लिया कि ऐसा बिलकुल संभव है कि कृषि के क्षेत्र में सामंती अवशेष भी बचे हुए हों और इजारेदार पूँजी का प्रवेश भी हो रहा हो! हमने कोई अप्रत्याशित बात नहीं कही थी। लेकिन जब *माटसाब* चकित हिरनी की तरह ऐसे मूर्खतापूर्ण सवाल पूछते हैं तो यह दिखला देता है कि इस बौद्धिक बौने के दिमाग़ में घुसे अंकगणित के खर्रे कितने ज़िद्दी हैं जो निकलने का नाम नहीं ले रहे हैं!

दूसरा, यह अधिभूतवाद से ठस दिमाग़ नहीं समझ सकता है कि प्रशियाई पथ के ज़रिये सामन्ती भूस्वामी ही पूंजीवादी भूस्वामियों में तब्दील हो रहे थे। हमने पिछले जवाब में विस्तारपूर्वक इस प्रक्रिया को लेनिन के लेखों के हवालों और ऐतिहासिक साक्ष्यों से दिखाया है। लेकिन *माटसाब* निरुत्तर होने पर कटाक्ष करके अपने "बौद्धिक" गंजत्व का ही प्रदर्शन करते हैं। लेनिन ने अप्रैल में इन तमाम जटिलताओं के बावजूद समाजवादी क्रान्ति के चरण की घोषणा क्यों की? लेनिन बताते हैं कि यह इसलिए संभव हुआ क्योंकि रूस में एक तरफ़ सत्ता बुर्जुआ वर्ग के हाथ में आ गई और दूसरा तरफ़ मज़दूरों और किसानों की सोवियत के रूप में जनता की जनवादी क्रान्तिकारी तानाशाही अस्तित्व में आ चुकी थी, यानी दोहरी सत्ता का अस्तित्व में आना। लेनिन स्पष्ट करते हैं:

"The passing of state power from one *class* to another is the first, the principal, the basic sign of a *revolution,* both in the strictly scientific and in the practical political meaning of that term.

"To this extent, the bourgeois, or the bourgeois-democratic, revolution in Russia is *completed.*

"**But at this point we hear a clamour of protest from people who readily call themselves "old Bolsheviks". Didn't we always maintain, they say, that the bourgeois-democratic revolution is completed only by the "revolutionary-democratic dictatorship of the proletariat and the peasantry"? Is the agrarian revolution, which is also a bourgeois-democratic revolution, completed? Is it not a fact, on the contrary, that it has *not even* started?**

"**My answer is: The Bolshevik slogans and ideas *on the whole* have been confirmed by history; but *concretely* things have worked out *diflerently;* they are more original, more peculiar, more variated than anyone could have expected.**

"To ignore or overlook this fact would mean taking after those "old Bolsheviks" who more than once already have played so regrettable a role in the history of our Party by reiterating formulas senselessly *learned by rote* instead of *studying* the specific features of the new and living reality.

"**The revolutionary-democratic dictatorship of the proletariat and the peasantry" has *already* become a reality in the Russian revolution, for this "formula" envisages only a *relation of classes*, and not a *concrete political institution implementing* this relation, this co-operation.**

"The Soviet of Workers' and Soldiers' Deputies"—there you have the "revolutionary-democratic dictatorship of the proletariat and the peasantry" already accomplished in reality.'' (Lenin, **Letters on Tactics,** *emphasis ours*)

लेनिन काउत्स्की द्वारा इसी सवाल के पूछे जाने पर, जो कि अब माटसाब पूछ रहे हैं, यह जवाब देते हैं:

"Beginning with *April* 1917, however, long before the October Revolution, that is, long before we assumed power, we publicly declared and explained to the people: the revolution cannot now stop at this stage, for the country has marched forward, capitalism has advanced, ruin has reached fantastic dimensions, which (whether one likes it or not) *will demand* steps forward, *to socialism.* For there is *no* other way of advancing, of saving the war-weary country and of *alleviating* the sufferings of the working and exploited people.

"Things have turned out just as we said they would. The course taken by the revolution has confirmed the correctness of our reasoning. ***First*, with the "whole" of the peasants against the monarchy, against the landowners, against medievalism (and to that extent the revolution remains bourgeois, bourgeois-democratic). *Then*, with the poor peasants, with the semi-proletarians, with all the exploited, *against capitalism*, including the rural rich, the kulaks, the profiteers, and to that extent the revolution becomes a *socialist* one. To attempt to raise an artificial Chinese Wall between the first and second, to separate them *by anything else* than the degree of preparedness of the proletariat and the degree of its unity with the poor peasants, means to distort Marxism dreadfully, to vulgarise it, to substitute liberalism in its place.** It means smuggling in a reactionary defence of the bourgeoisie against the socialist proletariat by means of quasi-scientific references to the progressive character of the bourgeoisie in comparison with medievalism." (Lenin, **The Proletarian revolution and The Renegade Kautsky**)

आप देख सकते हैं कि *माटसाब* अब रूस के इतिहास के एक कालखण्ड से दूसरे कालखण्ड में छिपकर कोई ऐसा तथ्य या उद्धरण खोज निकालना चाहते हैं जो उनकी कुलकपरस्ती को सत्यापित कर सके और उसे वैधीकरण प्रदान कर सके। और अगर *माटसाब* को ऐसा तथ्य नहीं मिलेगा, जोकि नहीं ही मिलेगा, तो वह लेनिन की बातों को तोड़-मरोड़ कर काम चला लेंगे! और इसलिए ही अभी वह ऐसा कर भी रहे हैं!

आगे, *माटसाब* अपने वर्ग सहयोगवाद और कुलकपरस्ती को यह कहकर सही ठहराने की कोशिश करते हैं कि वह छोटी पूंजी के भविष्य का प्रतिनिधित्व करते हैं! यहां वह छोटी पूंजी के प्रति अपने निर्बाध प्रेम को खुलकर ज़ाहिर करते हैं। हमने उन्हें पहले ही कहा था कि उन्हें दुकानदारों, ठेकेदारों, दलालों और दिल्ली के मायापुरी के छोटे फैक्ट्री मालिकों से मोर्चा बना लेना चाहिए। वह अब ख़ुद इस तथ्य को स्वीकार कर रहे हैं! *माटसाब* बताते हैं कि :

"कुल मिलाकर, हम कह सकते हैं कि हम इस तरह से उजड़ने के लिए मजबूर होती छोटी पूंजियों के वर्तमान का नहीं, उसके भविष्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। यानी, कोई छोटी पूंजी उजड़ने की प्रक्रिया झेलते हुए भी जिस रूप में **आज** है उसके अर्थ में नहीं, अपितु वह **कल** क्या होगी, उसके अर्थ में। इस **कल** के अर्थ में ही इसके उजड़ने की बात हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि हमें अन्य चीजों के अतिरिक्त इससे भी पूंजीवाद की मानवद्रोहिता का भंडाफोड़ करने में मूर्त सहायता मिलती है। इस अर्थ में धनी किसानों का ही नहीं, बड़ी पूंजियों के द्वारा निगली जा रही तमाम असंख्य छोटी-मंझोली पूंजियों के **कल** आने वाले भविष्य का हम प्रतिनिधित्व करते हैं और इसे भी हमें बखूबी अपने भंडाफोड़ अभियान का प्रस्थान बिंदु बनाना चाहिए।'' ([किसान आंदोलन] बिगुल मंडली के साथ स्पष्ट होते हमारे मतभेदों का सार, 'यथार्थ')

इस बकवास का जवाब लेनिन ने मानो "महासचिव" अजय सिन्हा और "यथार्थवादी" बौड़म मण्डली के लिए ही दिया था। लेनिन लिखते हैं:

"But it would be no less a mistake to forget the *reality,* which reveals the fact that an *agreement,* or—to use a more exact, **less legal, but more class-economic term—*class collaboration* exists between the bourgeoisie and the peasantry.**

"When this fact ceases to be a fact, when the peasantry separates from the bourgeoisie, seizes the land and power despite the bourgeoisie, that will be a new stage in the bourgeois-democratic revolution; and that matter will be dealt with separately.

"**A Marxist who, in view of the possibility of such a future stage, were to forget his duties in *the present,* when the peasantry is *in agreement* with the bourgeoisie, would turn petty bourgeois**. For he would in practice be preaching to the proletariat *confidence* in the petty bourgeoisie ("this petty bourgeoisie, this peasantry, must separate from the bourgeoisie while the bourgeois-democratic revolution is still on"). **Because of the "possibility" of so pleasing and sweet a future, in which the peasantry would *not* be the tail of the bourgeoisie, in which the Socialist-Revolutionaries, the Chkheidzes, Tseretelis, and Steklovs would *not* be an appendage of the bourgeois government—because of the "possibility" of so pleasing a future, he would be forgetting *the unpleasant present,* in which the peasantry still forms the tail of the bourgeoisie,** and in which the Socialist- Revolutionaries and Social-Democrats have not yet given up their role as an appendage of the bourgeois government, as "His Majesty" Lvov's Opposition.

"**This hypothetical person would resemble a sweetish Louis Blanc, or a sugary Kautskyite, but certainly not a revolutionary Marxist."** (Lenin, **Letters on Tactics**)

क्या हमें और कुछ कहने की ज़रुरत है? यही हमारे पटना के दोन किहोते की हालत है। वह वास्तव में *शुगरी* काउत्स्कीवादी हैं और क्रान्तिकारी मार्क्सवादी तो कत्तई नहीं हैं! ज़ाहिर सी बात है कि छोटी पूंजी के उजड़ने के भविष्य की नुमाइन्दगी करने की बात करके आज छोटे पूंजीपति वर्ग से एकता बनाने या उसे बचाने का शोरगुल मचाना और कुछ नहीं बल्कि 'महासचिव' अजय सिन्हा की घृणित मौक़ापरस्ती और सर्वहारा वर्ग से विश्वासघात को प्रदर्शित करता है।

आप देख सकते हैं कि हमारे पटना के *माटसाब* लेनिन को ही झुठलाने पहुंच गए हैं। *माटसाब* ने पिछले लेख में रूस की अक्तूबर क्रान्ति की विशेष परिस्थितियों में गांवों में तात्कालिक तौर पर रैडिकल बुर्जुआ कार्यक्रम को लागू किए जाने की सूरत में समूची किसान आबादी के साथ आने के तथ्य का सामान्यीकरण किया ताकि उन्हें मौजूदा धनी किसान आन्दोलन के दौरान कुलकों की पूँछ में कंघी करने का वैधीकरण मिल सके। ऐसा करते हुए पटना के दोन किहोते महोदय क्रान्ति की परिस्थितियों का मूल्यांकन करने में उत्पादन सम्बन्ध और वर्ग संघर्ष को ही ग़ायब देते हैं। वह मज़दूर वर्ग और समूची किसान आबादी बनाम एक साझा शत्रु की अवधारणा पेश करते हैं। हमारे द्वारा आलोचना करने और यह बताने पर कि रूस के विशिष्ट इतिहास को मास्टरजी गोल कर गए हैं तो अब इन महोदय ने एक बार फिर पैंतरापलट मारा और कहा कि रूस में गाँव में भी असल में समाजवादी क्रान्ति की ही मंज़िल थी और वर्ग संश्रय भी समाजवादी क्रान्ति का ही था। इस बौद्धिक बौने की बौद्धिक चार सौ बीसी की इन्तहां देखें!

लेकिन दिक्क़ततलब बात यह है कि *माटसाब* यह नहीं समझा सकते हैं कि फिर लेनिन समूची किसान आबादी की बात क्यों कहते हैं? लेनिन क्यों बताते हैं कि गांवों में सर्वहारा क्रान्ति 1918 में जाकर ही शुरू हुई। जैसा साथी अभिनव ने कहा था कि **यह *माटसाब* द्वारा *गूगल सर्च टूल* से उद्धरणों की *हन्टिंग* और *गैदरिंग* करने का परिणाम होता है। *माटसाब* ने उद्धरणबाज़ी तो की है लेकिन किसी उद्धरण का उन्हें न तो सन्दर्भ पता होता है और न ही अर्थ।**

दोन किहोते दि ला पटना ने रूसी क्रान्ति के बारे लेनिन के कुछ उद्धरण उठाए और उन्हें अपनी अवस्थिति में बैठाने के लिए बस गोल-गोल घुमाया! लेकिन हर बार की तरह वह इस बार भी इसमें बुरे फंसे हैं।

'यथार्थ' के नये लेख में *दोन किहोते दि ला पटना* द्वारा यह साबित करने की कोशिश की गयी है कि समाजवादी क्रान्ति के चरण के बावजूद और वर्ग संश्रय में धनी किसानों को साथ लिए बिना भी धनी किसानों-कुलकों के साथ मिलकर क्रान्ति की जा सकती है। यह *माटसाब* की नयी "थीसिस" है : समाजवादी क्रान्ति में धनी किसान-कुलक वर्ग साथ आएंगे लेकिन वर्ग संश्रय का हिस्सा नहीं होंगे! कुलकपरस्ती इनसे क्या-क्या करवाएगी? यह और कुछ नहीं नवनरोदवाद और नवसंशोधनवाद है जो क्रान्ति की मूल अवधारणा पर हमला करता है। यानी पूंजीपति वर्ग का एक हिस्सा न तो दुश्मन है और न ही मित्र! मानो इनका कुलक-त्रिशंकु बीच में अटक गया हो और एक तरफ़ तो हमारे विश्वामित्र रूपी पटना के दोन किहोते उसे स्वर्ग पहुंचाना चाहते हैं लेकिन दूसरी तरफ़ उन्हें मार्क्सवादी भी कहलाना है और समाजवादी क्रान्ति भी करनी है और इसका ज़ोर कुलकों को स्वर्ग में पहुंचने से रोक भी रहा है क्योंकि मार्क्सवादी चोगा पहनने पर समाजवाद और सर्वहारा क्रान्ति की लफ्फाज़ी भी करनी पड़ेगी! यही कारण है कि एक तरफ़ माटसाब कुलकों को पूंजीपति नहीं रहने देते हैं लेकिन दूसरी तरफ़ उसे पूंजीपति भी बना देते हैं! अधर में लटके इस कुलक-त्रिशंकु के मुंह से टपकी लार से पैदा होने वाली कर्मनाशा नदी में कूद-कूदकर हमारे *माटसाब* और "यथार्थवादी" बौड़म मण्डली छप-छप करती हुई अपने कर्मों का नाश ही कर रही है!

2. "वर्ग एक मात्रात्मक श्रेणी है": और इस तरह *माटसाब* दूसरी बन्दरकुद्दी मार पुनः समाजशास्त्रीय विश्लेषण पर पहुंचे!

माटसाब के झूठों के पुलिंदों और इतिहास की दरिद्र जानकारी को जब हमने अपनी पिछली आलोचना में उजागर किया तो वह अपने जवाब में इस बार कहते हैं कि अरे, यह सब करने की क्या ज़रूरत थी! उन्हें बस हमारे द्वारा यह बताये जाने की ज़रुरत थी कि वह फंस गए हैं और वह तुरंत ही अपनी अवस्थिति बदल देते! वह *इलेक्ट्रान* की अनिश्चितता के समान ही अपनी अवस्थिति बदल लेते हैं। पिछले लेख में उन्होंने कहा था कि 'किसान बुर्जुआज़ी' दरअसल पूंजीपति वर्ग नहीं है। हमने अपनी आलोचना में लेनिन को उद्धृत कर यह दिखाया था कि 'किसान बुर्जुआज़ी' पूंजीवादी फार्मर है जो कि पूंजीपति वर्ग का ही हिस्सा होता है। अब जब *माटसाब* इस मसले पर झूठ बोलते हुए पकड़े गए हैं और बिल्ले की तरह अपने ही कुतर्कों के ऊन के गोले में फंस गए हैं तो वह कह उठते हैं कि 'किसान बुर्जुआज़ी' तब तक ही पूंजीपति है जब तक लेनिन उत्पादन सम्बन्ध की बात करते हैं! लेकिन जब वर्ग संघर्ष के शक्ति संतुलन की बात होती है तो *माटसाब* चेताते हैं कि तब 'किसान बुर्जुआज़ी' पूंजीपति नहीं रहता है। वर्ग सहयोगवाद और संशोधनवाद से पगा हुआ दिमाग़ ही ऐसी बक़वास परोस सकता है। कुलकों की दलाली की चाहत ही पटना के दोन किहोते को साधू गोरेन्फ्लो वाले क़रतब दिखाने में सफल बनाती है।

देखें *माटसाब* की पुरानी अवस्थिति क्या थी:

"Lenin and the Bolshevik didn't waver on this point only because they had well studied and were well in control of the teachings of Marx and Engels on the question of attitude of communists towards different sections of peasants. They knew peasant bourgeoisie and rural capitalists were not the same thing otherwise they wouldn't have gone for a proletarian revolution with the peasantry as

whole on its side as capitalists were all expropriated." (Apologists are just short of saying red salute to Corporates, 'The Truth', Issue no. 12)

और देखें:

"For the bourgeosie in above mentioned quote he explains that this word is however not a synonym of rural bourgeoisie. He means here peasant bourgeoisie. We will see that Lenin used the word 'rich peasant' not for bourgeoisie, though rural bourgeoisie develop from rich peasants. Stalin writes in HCPSU about it. He says – "From among the more well-to-do peasants there was emerging an upper layer of kulaks, the rural bourgeoisie." It means rural bourgeoise was constituted of the upper layer of kulaks. Stalin once again writes – "This peasant bourgeoisie was growing rich …. developing into rural capitalists". Here also, he differentiates between the two. (p.6, HCPSU,)

"Even in respect of the rich peasants we do not say as resolutely as we do of the bourgeoisie (Here it is clear that Lenin didn't consider the rich peasants per se as bourgeoisie.)" (Apologists are just short of saying red salute to Corporates, 'The Truth', Issue no. 12)

पाठक देख सकते हैं कि महासचिव "अजय सिन्हा" यहाँ साफ़ तौर पर बता रहे हैं कि धनी किसान और 'किसान बुर्जुआज़ी' ग्रामीण पूंजीपति वर्ग नहीं होता है।

अब *माटसाब* की नयी अवस्थिति क्या है यह भी देख लेते हैं:

"दरअसल लेनिन जब भी वर्ग-संघर्ष और उसके तात्कालिक निशाने व दायरे के संदर्भ में बात करते हैं, तो वह परिमाणात्मक अंतर को ध्यान में रखते होते हैं। वहीं अगर वह उत्पादन संबंधों के संदर्भ में विचार करते हैं तो इस परिमाणात्मक अंतर को अलग कर देते हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण यह है कि हम देखते हैं कि लेनिन प्राय: गरीब किसानों के दायरे से बाहर के सभी किसानों, सिर्फ धनी किसानों को ही नहीं, सभी किसानों को पूंजीपति ही मानते हैं, क्योंकि उत्पादन संबंधों या किसी खास आर्थिक केटेगरी के संदर्भ में उन पर विचार करते समय इसके सिवाय और कोई दूसरा रास्ता भी नहीं होता है।

"हां, एक फर्क है, वह यह है कि हम जिसे किसान बुर्जुआज़ी या खाते-पीते किसान कहते हैं, लेनिन उसे ग्रामीण पूंजीपति कह रहे हैं। और हम जिसे ग्रामीण पूंजीपति और पूंजीपति (एक दूसरे के समानार्थक शब्द की तरह) कह रहे हैं लेनिन उसे पूंजीपति वर्ग और पूंजीवादी किसान कह रहे हैं। अगर इस छोटे अंतर को छोड़ दें, जिसमें शब्दों का मामूली अंतर है लेकिन सार रूप में कोई अंतर मौजूद नहीं है, तो हमारी बात में और लेनिन की बात में कोई अंतर नहीं है।

"इस संबंध में हमारे और लेनिन के बीच जो फर्क है वह मात्र इतना है कि हम जिस **खाते-पीते किसानों** को किसान बुर्जुआज़ी कहते हैं, लेनिन उसे ग्रामीण बुर्जुआज़ी कहते हैं। जाहिर है यह फर्क कोई ऐसा फर्क नहीं है जिसे ख़त्म करने की जरूरत भी है। यह हो ही सकता है कि हम किसी चीज़ को जिस नाम से पुकारते हैं ठीक उसी चीज़ को कोई दूसरा दूसरे नाम से पुकार सकता है।" ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

वाह! क्या ग़ज़ब की बन्दरकुद्दी मारी है *माटसाब* ने! *माटसाब* कुलकपरस्ती में इतने अन्धे हो चुके हैं कि उन्होंने सारा मसला ही इस बात पर अपचयित कर दिया है कि "हम किसी चीज़ को जिस नाम से पुकारते हैं ठीक उसी चीज़ को कोई दूसरा दूसरे नाम से पुकार सकता है।" मतलब अपना झूठ पकड़े जाने पर अपनी ग़लती मानने की बजाय यह बौद्धिक बौना अभी भी गलदोदई करने पर आमादा है! *दोन किहोते दि ला पटना* को लगता है बाक़ी दुनिया भी इनके सांचो पान्ज़ाओं की बच्चा पार्टी जैसी है कि "तुम दिन को अगर रात कहो रात कहेंगे" के इनके सुर में सुर मिलाएगी!

हमारे पिछले लेख में इनके 'किसान बुर्जुआज़ी' के इस झूठ पर हुई आलोचना से बच निकलने के चक्कर में ही *माटसाब* ने यह ज़बरदस्त बन्दरकुद्दी मारी है। लेकिन यह तो कोई छोटा बच्चा भी समझ जायेगा कि "महासचिव" अजय सिन्हा इस मसले पर झूठ बोलते हुए रंगे हाथों पकड़े गए हैं! अब बस अपनी रही-सही इज़्ज़त बचाने के लिए वह एक बार फिर तमाम क़िस्म के कठदलीली भरे हुए "बौद्धिक" द्रविड़-प्राणायाम कर रहे हैं। लेकिन ऐसा करते हुए बेचारे *माटसाब* और हास्यास्पद लग रहे हैं। इसलिए अब वह नया कुतर्क पेश करते हुए बताते हैं कि लेनिन उत्पादन सम्बन्ध की रोशनी में 'किसान बुर्जुआज़ी' को पूंजीपति कहते हैं।

आगे *माटसाब* अपना कुतर्क जारी रखते हुए बताते हैं कि लेनिन "वर्ग संघर्ष के तात्कालिक निशाने और उसके दायरे" में परिमाणात्मक अंतर को ध्यान में रखते हैं और ऐसे में कुलक और धनी किसान पूंजीपति नहीं रहते हैं। हालांकि *दोन किहोते दि ला पटना* जब "वर्ग-संघर्ष और उसके तात्कालिक निशाने व दायरे" का हास्यास्पद तर्क देते हैं तो उन्हें बताना चाहिए कि यह "तात्कालिक निशाना व दायरा" तय करने का पैमाना क्या होता है, क्योंकि उत्पादन सम्बन्धों को तो वह पहले ही कचरा पेटी के हवाले कर चुके हैं। यह एकदम बोगस बात है और पटना के दोन किहोते महोदय अपनी तरह ही लेनिन को भी एक कुलकपरस्त में तब्दील करना चाह रहे हैं लेकिन ऐसा करने पर यह महोदय और बुरे फँस रहे हैं। यह "सैद्धान्तिक" करतब उन्होंने तब किया जब हमने यह दिखाया कि उन्हें लेनिन द्वारा बतायी गयी 'किसान बुर्जुआज़ी' की परिभाषा के बारे में कोई जानकारी नहीं है और वह झूठ बोल रहे हैं। हमने पिछली बार ही *माटसाब* की आलोचना में कहा था:

"उनके अनुसार भारत में धनी किसान और कुलक (एक छोटे से ऊपरी हिस्से का छोड़कर) दरअसल 'किसान बुर्जुआज़ी' है जो आज बड़े इजारेदार पूंजीपतियों के खिलाफ़ एकजुट हैं और सर्वहारा वर्ग के मित्र हैं! वैसे तो सच्चाई यह है कि कुलक-फार्मर वर्ग के सबसे ऊंचे हिस्से भी इस समय लाभकारी मूल्य को बचाने के लिए कारपोरेट पूंजी के ख़िलाफ़ आन्दोलन में शामिल हैं, लेकिन *माटसाब* को सच्चाइयों से क्या मतलब? वह बताते हैं कि भारत में धनी किसान आन्दोलन इतिहास को रूस की तरह की स्थिति में धकेल सकता है। धनी किसानों के खेतों में लगी हौदी में कूदकर उसे समन्दर बताने वाले पटना के हमारे दोन किहोते ही हो सकते हैं! वह लेनिन को उद्धृत कर बताते हैं कि 'किसान बुर्जुआज़ी' और अमीर किसान समानार्थी हैं और जिसका अर्थ बुर्जुआ वर्ग नहीं है-

"In October we confined ourselves to sweeping away at one blow the age-old enemy of the peasants, the feudal landowner, the big landed proprietor. This was a struggle in which all the peasants joined. At this stage the peasants were not yet divided into proletarians, semi-proletarians, poor peasants and *bourgeoisie.*" (Lenin, **Proletarian Revolution and Renegade Kautsky**)

"अब क्या कहा जाय? लेनिन यहां खुद ही बता रहे हैं कि समूची किसान आबादी का मोर्चा केवल एक ही शत्रु के विरुद्ध बन सकता है: सामन्ती भूस्वामी वर्ग। क्या आज भारत में किसी सामन्ती भूस्वामी वर्ग के विरुद्ध मोर्चा बनाना है? आगे लेनिन खुद ही ग्रामीण आबादी के प्रमुख हिस्सों, यानी, खेतिहर सर्वहारा, अर्द्धसर्वहारा, ग़रीब किसान और पूंजीपति वर्ग (पूंजीवादी किसान या 'किसान बुर्जुआज़ी') की बात की है। लेकिन समूचे किसानों का मोर्चा ठीक इसलिए बना क्योंकि उस समय शत्रु सामन्ती भूस्वामी वर्ग था। किसी भी बड़े शत्रु के समक्ष समूची किसान आबादी नहीं एकजुट होती है। उस बड़े शत्रु का वर्ग चरित्र क्या है, इससे तय होता है कि समूची किसान आबादी उसके विरुद्ध एकजुट होगी या नहीं। बहरहाल, इतना स्पष्ट है कि समूची किसान आबादी केवल सामन्तवाद के विरुद्ध ही एकजुट हो सकती है। क्या भारत में आज ऐसी स्थिति है? अगर है, तो पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेतृत्व को दुम दबाकर इस बिल से उस बिल में नहीं भागना चाहिए और खुल कर लिखना चाहिए कि वह जहां से आए हैं, वहीं वापस जा रहे हैं, यानी नवजनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम पर, या फिर उन्हें स्पष्ट शब्दों में कहना चाहिए कि अक्तूबर क्रान्ति के ही समान आज के भारत में भी समाजवादी क्रान्ति कृषि के क्षेत्र में रैडिकल बुर्जुआ जनवादी कार्यक्रम को पूरा करने तक सीमित रहेगी, जिसका निशाना सामन्ती भूस्वामी वर्ग था।" **(सनी, पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय का नया जवाब या एक बातबदलू बौद्धिक बौने की बदहवास, बददिमाग़, बदज़ुबान बौखलाहट, बेवकूफियां और बड़बड़ाहट)**

हमने लेनिन व स्तालिन द्वारा दी गई 'किसान बुर्जुआज़ी' व ग्रामीण बुर्जुआज़ी की परिभाषा स्पष्ट करते हुए लिखा था:

"किसान बुर्जुआज़ी वह वर्ग है जो नियमित तौर पर बाज़ार के लिए उत्पादन करता है, उजरती मज़दूरों के श्रम का नियमित तौर पर शोषण करता है, मुनाफे को अधिकतम बनाने के लिए उत्पादन करता है। यह और कोई नहीं बल्कि पूंजीवादी फार्मर या धनी किसान ही है। यह पूंजी संचय की प्रक्रिया के आगे बढ़ने के साथ ज़मीनें खरीदता है, किराए पर लेता और देता है, औद्योगिक व अन्य वाणिज्यिक उपक्रमों में निवेश करता है, खेती की तकनोलॉजी में निवेश करता है। 'किसान बुर्जुआज़ी' और कुछ नहीं है, बल्कि उद्यमी पूंजीवादी किसान है। लेनिन यह भी बताते हैं कि ग्रामीण बुर्जुआज़ी के अन्य अंगों, यानी पूंजीवादी लगानजीवी भूस्वामी, सूदखोर, व्यापारी व औद्योगिक निवेश करने वाले पूंजीपति, के बीच कोई चीन की दीवार नहीं होती है, जैसा कि हम आगे देखेंगे, बल्कि उनके बीच आंशिक अतिच्छादन (partial overlapping) होता है।

"ग्रामीण बुर्जुआज़ी या ग्रामीण पूंजीपति वर्ग में उद्यमी पूंजीवादी किसान या किसान बुर्जुआज़ी, पूंजीवादी भूस्वामी, पूंजीवादी वाणिज्यिक उपक्रमों में पूंजी निवेश करने वाले और सूदखोरी करने वाले ग्रामीण वर्ग शामिल हैं। लेनिन यह भी बताते हैं कि इनके बीच में कोई पत्थर की दीवार नहीं है और अक्सर उद्यमी किसान/किसान बुर्जुआज़ी स्वयं ज़मीन किराए पर देने वाला लगानखोर पूंजीवादी भूस्वामी भी होता है, वह सूद पर पैसे भी चलाता है, वाणिज्यिक उपक्रमों में निवेश भी करता है। लेकिन फिर भी इन श्रेणियों को समझना अनिवार्य है क्योंकि आंशिक अतिच्छादन के बावजूद ग्रामीण बुर्जुआज़ी के ये अलग-अलग हिस्से विद्यमान होते हैं।" (*वही*)

हमने अपनी आलोचना में ससंदर्भ व सप्रमाण विस्तारपूर्वक दिखलाया था कि धनी किसान और कुलकों का वर्ग गाँवों में पूंजीपति वर्ग का हिस्सा होता है। दूसरा, हमने लेनिन के हवाले से यह भी दिखाया था कि गाँवों में भी पूँजीवाद के अग्रवर्ती विकास के साथ किसान आबादी के विभेदीकरण की प्रक्रिया में एक छोर पर 'किसान बुर्जुआज़ी'

यानी ग्रामीण बुर्जुआ वर्ग पैदा होता है और दूसरे छोर पर ग्रामीण सर्वहारा वर्ग पैदा होता है। जैसे ही हमने *माटसाब* की यह आलोचना पेश की वैसे ही उन्होंने अपनी अवस्थिति बदल ली! पाठक स्वयं इनकी इस धूर्तता को देख सकते हैं। अब "महासचिव" अजय सिन्हा यह जता रहे हैं कि वह कहाँ इन्कार कर रहे थे कि 'किसान बुर्जुआज़ी' पूंजीपति वर्ग नहीं है! **क्या सफ़ेद झूठ बोलता है यह आदमी?** हालाँकि ऐसा करते हुए फिर *माटसाब* यहां निम्नांकित धूर्तता भरी मूर्खतापूर्ण चालाकियां करते हैं।

माटसाब की पहली मूर्खतापूर्ण "चालाकी": उत्पादन सम्बन्ध और वर्ग संघर्ष में विच्छेद कर वर्ग को एक परिमाणात्मक श्रेणी बना देना

माटसाब बहस में अपने झूठ पकड़े जाने पर और अपनी दबी हुई कोर बचाने की मंशा से बताते हैं कि "लचीलेपन" का और "मात्राओं" का बड़ा महत्त्व होता है। बिलकुल जनाब! होता है! **मौजूदा धनी किसान आन्दोलन में कुलकों की पालकी का कहार बनने में आपकी पूरी "यथार्थवादी" बौड़म मण्डली ने विचारधारात्मक रीढ़ की हड्डी का तो ग़ज़ब का "लचीलापन" दिखलाया है और उसे "मात्राओं" में बढ़ाते हुए मज़दूर वर्ग से विश्वासघात तक भी ले गयी है!** "लचीलेपन" के विषय में "सिद्धान्त प्रतिपादन" करते हुए *माटसाब* लिखते हैं:

''इस तरह इनके द्वारा धनी किसानों के बारे में दी गई परिभाषा में कोई लचीलापन नहीं है। इनके अनुसार, जो भी किसान अपनी पूंजी बढ़ा पाता है वह पूंजीपति है और इसलिए, ये कहते हैं, कि भले ही गंभीर संकट के पहले ही दौर के झोंके में वह उजड़ जाए, लेकिन उसके और उसके अपेक्षाकृत स्थायी रूप से पूंजीपति बन चुके तबकों में कोई फर्क नहीं करना चाहिए। इनकी समझ छोटे और बड़े के बीच फर्क करने की है ही नहीं। उत्पादन संबंध के अलावा ये कुछ भी देखना नहीं चाहते। आखिर, ये सुपर क्रांतिकारी जो ठहरे!

"लेकिन यह गलत है, क्योंकि मात्रा की भूमिका होती है हम जानते हैं।

"दरअसल लेनिन जब भी वर्ग-संघर्ष और उसके तात्कालिक निशाने व दायरे के संदर्भ में बात करते हैं, तो वह परिमाणात्मक अंतर को ध्यान में रखते होते हैं। वहीं अगर वह उत्पादन संबंधों के संदर्भ में विचार करते हैं तो इस परिमाणात्मक अंतर को अलग कर देते हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण यह है कि हम देखते हैं कि लेनिन प्राय: गरीब किसानों के दायरे से बाहर के सभी किसानों, सिर्फ धनी किसानों को ही नहीं, सभी किसानों को पूंजीपति ही मानते हैं, क्योंकि उत्पादन संबंधों या किसी खास आर्थिक केटेगरी के संदर्भ में उन पर विचार करते समय इसके सिवाय और कोई दूसरा रास्ता भी नहीं होता है।" ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

माटसाब के अनुसार मात्रा का महत्त्व होता है। निश्चित ही होता है, लेकिन हर परिमाण किसी न किसी गुण के साथ ही अभिव्यक्ति पाता है। गुण और परिमाण द्वंद्वात्मक श्रेणियां हैं जिसमें विच्छेद हर अधिभूतवादी को करना ही होता है, जोकि पटना के दोन किहोते हैं। *माटसाब* यहां चोरी पकड़ी जाने पर मार्क्सवाद के बुनियादी प्रवर्गों के साथ तोड़-मरोड़ करना शुरू कर देते हैं और संशोधनवाद की राह पर थोड़ा और आगे बढ़ जाते हैं। मास्टरजी बताते हैं कि अगर

"वर्ग संघर्ष और उसके तात्कालिक निशाने व दायरे के संदर्भ" से देखें तो धनी किसान और कुलक पूंजीपति वर्ग नहीं हैं। लेकिन चूंकि लेनिन उत्पादन सम्बन्ध के नज़रिये से देखते हैं तो वह पूंजीपति वर्ग कहलाता है और लेनिन के अनुसार तो ग़रीब किसान के अलावा हर किसान ही पूंजीपति बन जाता है! यह लेनिन की समझदारी का विकृतिकरण नहीं है तो और क्या है? देखते हैं कि *माटसाब* किस प्रकार लेनिन को एक साधारण नरोदवादी और सुधारवादी बनाने का प्रयास करते हैं।

लेनिन के लिए बुनियादी पैमाना यही था कि कौन सा किसान उजरती श्रम का नियमित तौर पर शोषण करता है और कौन ऐसा नहीं करता है। इस मूल गुणात्मक आधार को छोड़ दें, तो अन्य सभी मात्रात्मक आधार अपने आप में कुछ भी तय नहीं करते; मसलन, किस किसान की आय ज़्यादा है, किस किसान की आय कम है, यह मार्क्सवादी-लेनिनवादी के लिए अपने आप में कोई पैमाना नहीं है। क्यों? क्योंकि यह वितरण सम्बन्धों पर आधारित श्रेणी है। वर्गों की पहचान उत्पादन सम्बन्धों के आधार पर होती है। यदि कोई किसान उजरती श्रम का शोषक है, तो वह समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में किसी भी रूप में मित्र वर्ग नहीं हो सकता है, चाहे *माटसाब* उत्पादन सम्बन्ध के आर्थिक आधार और वर्गों के रूप में उसकी सामाजिक व राजनीतिक अभिव्यक्ति के बीच कितना भी विच्छेद करने का प्रयास करें। लेनिन का केवल और केवल यही विश्लेष्णात्मक पैमाना है।

इसके अलावा, *माटसाब* जानबूझकर हमें भी ग़लत उद्धृत करते हैं। उनके अनुसार हमारा मानना है कि जो अपनी पूँजी बढ़ा पाता है, वह पूंजीपति होता है! यह अनोखा विश्लेषण *माटसाब* ने अपने दिमाग़ के कबूतरखाने में करके हम पर आरोपित कर दिया है। हमने बार-बार यह कहा है कि जो भी किसान उजरती श्रम का नियमित तौर पर शोषण करता है और पूँजी संचय करके विस्तारित पुनरुत्पादन करता है, वह पूंजीवादी फार्मर की श्रेणी में आता है और इसलिए ग्रामीण पूंजीपति वर्ग की श्रेणी में आता है और इसलिए भारत के धनी किसान, कुलक और फार्मर इसी श्रेणी में आते हैं। यह बुनियादी पैमाना है। बाक़ी सभी कारक इसके बाद आते हैं।

लेकिन क्या कारण है कि "महासचिव" अजय सिन्हा इस बुनियादी पैमाने का कभी ज़िक्र तक नहीं करते हैं? क्या कारण है कि जब भी उजरती श्रम के शोषकों की बात आती है तो *माटसाब* बौड़मों की तरह मुहं बा कर छत ताकने लगते हैं? क्या वजह है कि "यथार्थवादी" मूर्खों की मण्डली इस बात पर हमेशा साज़िशाना चुप्पी अख्तियार किये रखती है? वजह साफ़ है: इन "यथार्थवादियों" को गाँव में खेतिहर मज़दूरों और दलित मज़दूरों और साथ ही ग़रीब किसानों के प्रमुख शोषक और उत्पीड़क कुलक-धनी किसान वर्ग की दलाली जो खानी है!

यही कारण है कि *दोन किहोते दि ला पटना* अपनी नंगी कुलकपरस्ती को कुछ "सैद्धान्तिक" मुलम्मा पहनाने की हास्यास्पद कोशिश कर रहे हैं। हालाँकि यह कुलकपरस्ती इतनी ज़्यादा नंगी है कि कोई मुलम्मा न तो अतीत में इनके काम आया है और न अब आ रहा है! दरअसल बहस की शुरुआत से ही इन "यथार्थवादियों" का वन-पॉइंट एजेंडा अपने आकाओं यानी इन्ही धनी किसानों-कुलकों के शोषण का वैधीकरण तैयार करना था और इस परजीवी शोषक-उत्पीड़क वर्ग के समर्थन में पक्ष निर्मित करना था। इसलिए *माटसाब* अब जो तर्क लेकर आए हैं वह वर्ग को एक मात्रात्मक श्रेणी बना देते हैं और पूरी तरह एक सापेक्षिक मनोगत श्रेणी बना देता है जिसका वस्तुगत उत्पादन के सम्बन्धों से कोई लेना-देना ही नहीं है। यह हद दर्जे की घटिया मौक़ापरस्ती है जो सिर्फ बहस में बार-बार अपने झूठ बोले जाने पर पकड़े जाने की वजह से "महासचिव" अजय सिन्हा और "यथार्थवादियों" द्वारा की जा रही है। साथ ही आप देख सकते हैं कि *दोन किहोते दि ला पटना* एक बार फिर बुर्जुआ समाजशास्त्र के कचरे में लोट लगा रहे हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत यह "थीसिस" वर्ग का मार्क्सवादी विश्लेषण नहीं बल्कि समाजशास्त्रीय विश्लेषण है।

चूंकि *माटसाब* द्वारा एक बार फिर मार्क्सवाद का विकृतिकरण किया गया है इसलिए पहले यह समझ लेते हैं कि उत्पादन सम्बन्ध क्या होते हैं: सम्पत्ति सम्बन्ध, सामाजिक श्रम विभाजन तथा वितरण सम्बन्ध का कुल योग ही उत्पादन सम्बन्ध कहलाता है। वर्ग अन्तरविरोध उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच के अन्तरविरोध के एक ख़ास दौर में ही अस्तित्व में आता है और उसकी ही विचारधारात्मक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति होता है। लेनिन के अनुसार वर्ग की परिभाषा क्या है? लेनिन बताते हैं कि:

"Classes are large groups of people differing from each other by the place they occupy in a historically determined system of social production, by their relation (in most cases fixed and formulated in law) to the means of production, by their role in the social organisation of labour, and, consequently, by the dimensions of the share of social wealth of which they dispose and the mode of acquiring it. **Classes are groups of people one of which can appropriate the labour of another owing to the different places they occupy in a definite system of social economy."** (Lenin, **A Great Beginning**)

मास्टरजी को ऊपर दिये उद्धरण को ठीक से पढ़ना चाहिए और समझना चाहिए कि लेनिन के अनुसार मात्रा से वर्ग तय नहीं होता है। लेनिन स्पष्ट करते हैं कि:

"**Capitalists may be small or big, foolish or clever, but this is not a criterion of capitalism. Capitalism means producing commodities and hiring wage-labour.**" (Lenin, **There's a Trudovik for You!**)

यानी *माटसाब* के शब्दों में लेनिन भी "उत्पादन सम्बन्ध के अलावा कुछ भी देखना नहीं चाहते। आखिर, ये सुपर क्रांतिकारी जो ठहरे!"

आगे पुन: लेनिन छोटे किसानों के सम्बन्ध में अपने विचार स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि:

"As a matter of fact, **the vast majority of the "small and medium" peasants to whom the Left Narodniks are fond of referring without discrimination, either sell or buy labour-power, either hire themselves out or hire labour. That is the *crux of the matter*, which the bourgeois "labour economy" theory obscures.**

"The proletarian says to the small peasant: you are a semi-proletarian, so *follow the lead* of the workers; it is your only salvation.

"The bourgeois says to the small peasant: you are a small proprietor, a "labouring farmer". Labour economy "grows" under capitalism as well. You should be with the proprietors, not with the proletariat.

"The small proprietor has two souls: one is a proletarian and the other a "proprietory" soul.

"The Left Narodniks are, *in effect*, repeating the theories of the bourgeoisie and *corrupting* the small peasants with "proprietory" illusions. That is why the Marxists relentlessly combat this bourgeois corruption of the small peasants (and backward workers) by the Left Narodniks." (Lenin, **The Left Narodniks Whitewash the Bourgeoisie)**

लेनिन छोटे किसानों की दोयम स्थिति को स्पष्ट करते हैं कि पूँजीवाद के अंतर्गत वे भी छोटे पैमाने के माल उत्पादक होते हैं, हालांकि वे धनी किसानों-कुलकों और पूंजीवादी फार्मरों की तरह उजरती श्रम के शोषक नहीं होते हैं। लेकिन ज़मीन के छोटे से टुकड़े के मालिकाने के कारण उनके अन्दर नैसर्गिक तौर पर "स्वामित्व की आत्मा" भी होती है। दूसरी ओर चूंकि यह वर्ग स्वयं उजरती श्रम का नियमित शोषण नहीं करता है और मुख्यतः अपने या अपने परिवार के श्रम से ही उत्पादन करता है तो उस दृष्टि से इसका सर्वहारा वर्ग के साथ भी साझा पक्ष बनता है। लेकिन लेनिन यह भी बताते हैं कि भले ही छोटे किसान भी मज़दूरों की तरह उत्पीड़ित होते हैं, फिर भी इसे एक वर्ग के तौर पर हमेशा मज़दूर वर्ग से अलग करके देखने की आवश्यकता हैं:

"On the other hand, the difference in the *class* status of the small farmers and the hired labourers is here thrown into especially sharp relief. To be sure, both labour; to be sure, both are subject to exploitation by capital, though in entirely different forms. But only vulgar bourgeois democrats will for this reason put the two different classes together and speak of small-scale operations by family farms. To do so is to cover up and disguise the *social* system of the economy—its bourgeois nature—and push into the foreground a feature common to *all* earlier formations, namely, the necessity for the petty farmer to work, to engage in personal, physical labour, if he is to survive.

"**Under capitalism, the small farmer—whether he wants to or not, whether he is aware of it or not—becomes a commodity producer. And it is this change that is fundamental, for it alone, even when he does not *as yet* exploit hired labour, makes him a petty bourgeois and converts him into an antagonist of the proletariat. He sells his product, while the proletarian sells his labour-power**. **The small farmers, as a class, cannot but seek a rise in the prices of agricultural products, and this is tantamount to their joining the big landowners in sharing the ground-rent, and siding with the landowners against the rest of society.** As commodity production develops, the small farmer, in accordance with his *class* status, inevitably becomes a *petty landed proprietor*.

"…But it is quite possible, on the contrary, to imagine a state of affairs—indeed, such a situation is even typical of capitalism—where an improvement in the condition of the small farmers, as a class, **results from their alliance with the big landlords, their participation in exacting a higher ground-rent from society as a whole,** the contradictions arising between them and the mass of proletarians and semi-proletarians, who depend, entirely or at least mostly, on the sale of their labour-power." (Lenin, **New Data on the Laws Governing the Development of Capitalism in Agriculture,** *emphasis ours*)

ज़ाहिर है, वह ग़रीब किसान जो मुख्य रूप से अर्द्धसर्वहारा में तब्दील हो चुका है, यानी कि जो अब मुख्य रूप से श्रमशक्ति को बेचने पर निर्भर करता है, वह सर्वहारा वर्ग का मित्र है। लेकिन वह किसान जो कि केवल माल उत्पादक है और केवल अपना माल बेचता है, वह भी मूलतः पेटी बुर्जुआ वर्ग है, श्रमशक्ति का शोषक बनने की आकांक्षा रखता है, मज़दूर बन जाना उसका सबसे बड़ा भय होता है, और इस रूप में मज़दूर वर्ग के विरोधी पक्ष में खड़ा होता है। निश्चित तौर पर, पूंजीवाद के विकास के साथ इसका एक हिस्सा उजड़कर अर्द्धसर्वहारा और सर्वहारा वर्ग में शामिल हो जाता है। लेकिन इसका एक छोटा हिस्सा पूंजीपति वर्ग में भी शामिल होता है। पूंजीवाद के मातहत यह इस वर्ग की स्थिति होती है। सर्वहारा वर्ग अपनी तात्कालिक नीति उसके सम्भावित भविष्य के आधार पर नहीं तय करता है और न ही कर सकता है, जैसा कि लेनिन ने उस उद्धरण में स्पष्ट किया है, जिसे हमने ऊपर पेश किया है।

साफ़ है कि वर्ग की मार्क्सवादी परिभाषा को मास्टरजी भूल चुके हैं या यह भी हो सकता है कि उन्हें कभी पता ही नहीं था। दरअसल यह सारी चालबाज़ी *माटसाब* द्वारा अपने कुलकवादी वर्ग सहयोगवाद पर पर्दा डालने के लिए ही की गई है। आप इस उद्धरण में एक और बात स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं जो एमएसपी के सवाल पर चल रहे मौजूदा

कुलक आन्दोलन पर भी शब्दशः सटीक बैठती है। कृषि उत्पादों, जिसमें की खाद्यान्न भी शामिल हैं, की कीमतें बढ़ाने की कोई भी मांग पूरे समाज के विरुद्ध जाती है और पूंजीवादी भूस्वामी वर्ग की निरपेक्ष लगान या फिर इजारेदार लगान को बढ़ाने की मांग के समान है; ठीक इन्ही अर्थों में, लाभकारी मूल्य, जो कि पूंजीवादी राज्यसत्ता द्वारा धनी किसानों, पूंजीवादी फार्मरों और कुलकों के समर्थन में समाज से वसूला जाना वाला 'ट्रिब्यूट' है, एक इजारेदारी क़ीमत और इजारेदारी लगान है, जो कि खाद्य उत्पादों की क़ीमतों को बढ़ाता है और इसलिए मज़दूर वर्ग समेत आम मेहनतकश आबादी के ख़िलाफ़ जाता है। लेनिन का यह उपरोक्त कथन आज भी सोलह आने सच है। हम पाठकों से कहेंगे कि लेनिन की यह उपरोक्त रचना ज़रूर पढ़ें जिसमें अमेरिकी कृषि में पूंजीवादी विकास की आभिलाक्षणिकताओं को लेनिन द्वारा शानदार तरीक़े से प्रस्तुत किया गया है, जो आज के भारतीय सन्दर्भ में भी शब्दशः लागू होती हैं। हालाँकि "यथार्थवादी" कुलकवादी गिरोह को यह कत्तई समझ नहीं आएगा क्योंकि कुलकों की पूंछ में कंघी करने में मगन होकर वे सर्वहारा वर्ग और उसके हितों को भूल चुके हैं।

इस प्रश्न पर स्तालिन भी अपनी बात रखते हुए बताते हैं कि लेनिन के अनुसार वैयक्तिक किसानी को 'आखिरी पूंजीपति' वर्ग कहने का मतलब ही है उसे वर्ग विभाजित करके देखना। लेकिन *माटसाब* अपने गोरेंफ्लो-सरीखे कर्मकाण्डों के ज़रिये किसान आबादी के वर्ग विभेदीकरण को मिटाना चाहते हैं! हमने पहले ही यह स्पष्ट किया था कि वह भोंडे बुखारिनपन्थी हैं। स्तालिन कहते हैं:

"Lenin said that the individual peasantry is *the last capitalist class*. Is that thesis correct? Yes, it is absolutely correct. Why is the individual peasantry defined as the last capitalist class? Because, of the two main classes of which our society is composed, the peasantry is the class whose economy is based on private property and small commodity production. Because the peasantry, as long as it remains an individual peasantry carrying on small commodity production, produces capitalists from its midst, and cannot help producing them, constantly and continuously.

"This fact is of decisive importance for us in the question of our Marxist attitude to the problem of the alliance between the working class and the peasantry. This means that we need, not *just any kind* of alliance with the peasantry, but only *such an alliance* as is based on the struggle against the capitalist elements of the peasantry.

"As you see, Lenin's thesis about the peasantry being the last capitalist class not only does not contradict the idea of an alliance between the working class and the peasantry, but, on the contrary, supplies the basis for this alliance as an alliance between the working class and the majority of the peasantry directed against the capitalist elements in general and against the capitalist elements of the peasantry in the countryside in particular.

"Lenin advanced this thesis in order to show that the alliance between the working class and the peasantry can be stable only if it is based on the struggle against those capitalist elements which the peasantry produces from its midst.'' (Stalin, **Right wing deviation in CPSU (B)**)

स्तालिन ने जो बात यहां पेश की है क्या बिलकुल उसके विपरीत बात पीआरसी के "महासचिव" नहीं कर रहे हैं? हमने *माटसाब* की वर्ग की इस परिमाणात्मक परिभाषा के पहले भी परखच्चे उड़ाए थे :

"दरअसल, यह बौद्धिक कलाबाज़ी धनी कुलकों-किसानों की गोद में बैठने के लिए की गयी है, जैसा कि हम आगे देखेंगे। लेकिन क्या आय के अंतर के आधार पर वर्गों को परिभाषित किया जा सकता है और उसके आधार पर वर्ग संश्रय की कार्यदिशा पेश की जा सकती है? **नहीं!**

“यह मार्क्सवादी पद्धति नहीं बल्कि बुर्जुआ समाजशास्त्रीय और भोण्डी अर्थवादी पद्धति है जोकि उत्पादन सम्बन्धों, उत्पादन के साधनों तक पहुँच और उजरती श्रम के शोषण के पैमानों के अनुसार नहीं बल्कि *आय* के अनुसार वर्गों को विभाजित और परिभाषित करती है। इस प्रकार तो न सिर्फ खेतिहर पूंजीपति वर्ग को बल्कि पूरे पूंजीपति वर्ग को भी अमीर, बेहद अमीर और बेहद बेहद अमीर हिस्सों में बांटा जा सकता है! क्या उसके आधार पर कम अमीर पूंजीपतियों से वर्ग संश्रय बनाने और उन्हें समाजवाद पर राज़ी करने के एडवेंचर में उतरने के लिए हमारे पीआरसी के मास्टरजी तैयार हैं, क्योंकि सिर्फ धनी किसान–कुलक ही नहीं बल्कि छोटे पूंजीपूति वर्ग के सभी हिस्से नवउदारवाद के दौर में बड़ी इजारेदार पूंजी के समक्ष संकट का सामना कर रहे हैं? मसलन, अपने तर्क से उन्हें छोटे कारखानेदारों, दलालों, व्यापारियों आदि को भी साथ लेना चाहिए क्योंकि उनके अनुसार उपरोक्त संकट के कारण वह भी पूंजीवाद के खिलाफ़ संघर्ष में शामिल हो जाएंगे? जैसा कि आप देख सकते हैं यह पूरा तर्क ही मज़ाकिया और वाहियात है।

“वर्गों को परिभाषित करने का यह पैमाना नहीं होता है कि कौन कितना कमाता है बल्कि यह इससे तय होता है कि उत्पादन सम्बन्धों की व्यवस्था में उसका क्या स्थान है, वह श्रम शक्ति का शोषण करता है या नहीं। यह मार्क्सवाद का ‘क ख ग’ है। लेकिन मास्टरजी का पुराना रिकॉर्ड देखते हुए हमें कोई आश्चर्य नहीं है कि उन्हें मार्क्सवाद का इमला भी नहीं आता, जैसा कि हम आगे भी आपको दिखलाएंगे। **आय के अनुसार वर्गों की विभाजक रेखा (line of demarcation) खींचना समाजशास्त्रीय और भोंडी अर्थवादी पद्धति है न कि मार्क्सवादी-लेनिनवादी पद्धति। यह वितरण की संरचना व सम्बन्धों को प्रदर्शित करती है, न कि उत्पादन के सम्बन्धों को, जो कि कुल सामाजिक स्तर पर अंततः वितरण के सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं।” (**सनी, **पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय का नया जवाब या एक बातबदलू बौद्धिक बौने की बदहवास, बददिमाग़, बदज़ुबान बौखलाहट, बेवकूफियां और बड़बड़ाहट,)**

तो इस प्रकार मास्टरजी अपनी पुरानी सस्ती अवधारणाओं पर नयी जिल्द चढ़ाकर सांचों पांज़ाओं की अपनी छोटी-सी बच्चा पार्टी को चमत्कृत करते रहते हैं!

माटसाब की दूसरी मूर्खतापूर्ण "चालाकी": लेनिन और *माटसाब* का ‘किसान बुर्जुआज़ी’ के प्रति नज़रिया तो एक था बस नाम अलग-अलग इस्तेमाल कर दिए थे!

माटसाब कहते हैं कि:

“हां, एक फर्क है, वह यह है कि हम जिसे किसान बुर्जुआजी या खाते-पीते किसान कहते हैं, लेनिन उसे ग्रामीण पूंजीपति कह रहे हैं। और हम जिसे ग्रामीण पूंजीपति और पूंजीपति (एक दूसरे के समानार्थक शब्द की तरह) कह रहे हैं लेनिन उसे पूंजीपति वर्ग और पूंजीवादी किसान कह रहे हैं। अगर इस छोटे अंतर को छोड़ दें, जिसमें शब्दों का मामूली अंतर है लेकिन सार रूप में कोई अंतर मौजूद नहीं है, तो हमारी बात में और लेनिन की बात में कोई अंतर नहीं है।

"इस संबंध में हमारे और लेनिन के बीच जो फर्क है वह मात्र इतना है कि हम जिस **खाते-पीते किसानों** को किसान बुर्जुआजी कहते हैं, लेनिन उसे ग्रामीण बुर्जुआजी कहते हैं। जाहिर है यह फर्क कोई ऐसा फर्क नहीं है जिसे ख़त्म करने की जरूरत भी है। यह हो ही सकता है कि हम किसी चीज को जिस नाम से पुकारते हैं ठीक उसी चीज को कोई दूसरा दूसरे नाम से पुकार सकता है।" ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], यथार्थ)

अरे *माटसाब*! कुछ तो शर्म करो! आखिर झूठ बोलने और गलदोदई करने की भी कोई सीमा होती है! इस प्रकार से झूठ बोल कर लीपापोती करने की घटिया वाहियात हरक़तों में आम तौर पर भाजपाई संलिप्त पाए जाते हैं। लेकिन "महासचिव" अजय सिन्हा और उनका "यथार्थवादी" बौड़म गिरोह तो कुलकपरस्ती में ऐसा मगन हो चला है कि यह झूठ बोलने, बात बदलने, कहे हुए से मुकर जाने के सभी रिकॉर्ड हर आलोचना के साथ ध्वस्त करते जा रहे हैं। और इनका यह "मैं कुलकों की दीवानी हूँ" गिरोह फेसबुक पर शराफ़त का चोगा ओढ़कर आये दिन तर्जनी उठाकर सदाचार और शिष्टाचार की कोचिंग क्लास चलाता हैं! मतलब *हिपोक्रेसी* की भी आखिर कोई सीमा होती है! आप देख सकते हैं कि मास्टरजी यहाँ एकदम सफेद झूठ बोल रहे हैं। इसके अलावा लेनिन के अनुसार ग्रामीण पूंजीपति और पूंजीवादी किसान में कोई अंतर नहीं है; उद्यमी पूंजीवादी फार्मर ग्रामीण पूंजीपति वर्ग का हिस्सा ही है। निम्न उद्धरणों में आप यह देखें कि कैसे लेनिन धनी किसानों और कुलकों को ही पूंजीपति वर्ग का हिस्सा बताते हैं और साथ ही मज़दूर वर्ग का दुश्मन भी।

"**Having completed the bourgeois-democratic revolution** in alliance with the peasants as a whole, the Russian proletariat finally passed on to the socialist revolution when it succeeded in **splitting the rural population, in winning over the rural proletarians and semi-proletarians, and in uniting them against the kulaks and the bourgeoisie, including the peasant bourgeoisie."** (Lenin, **The Proletarian Revolution and Renegade Kautsky,** *emphasis ours*)

और देखें:

"The landowners and capitalists are generally opposed to full and undivided power being vested in the Soviets of Peasants' Deputies in the countryside; but if these Soviets are unavoidable, then we had better confine ourselves to them alone, **for the rich peasants are also capitalists.** (Lenin, *POLITICAL PARTIES IN RUSSIA AND THE TASKS OF THE PROLETARIAT*, **Collected Works, Vol-24**, p. 104, *emphasis ours*)

और भी देखें:

"In order that **the rich peasants—who are themselves capitalists**—may not wrong and deceive the agricultural labourers and the poor peasants, it will be necessary for the latter either to confer, to combine, to unite separately, or to set up Soviets of Agricultural Labourers' Deputies of their own. (Lenin, **Speech delivered at a meeting of Soldiers of the Izmailovsky Regiment, APRIL 10 (23)**, 1917, *emphasis ours*)

माटसाब फिर "बौद्धिक" चार सौ बीसी का परिचय देते हुए यह जताने की कोशिश कर रहे हैं कि खाता-पीता किसान वास्तव में पूंजीपति वर्ग का हिस्सा नहीं है। हालांकि *माटसाब* की भाषा ही माशाअल्लाह ऐसी अगड़म-बगड़म है कि कोई भी सामान्य व्यक्ति पढ़कर समझ नहीं सकता है कि यह महाशय बोलना क्या चाहते हैं। मतलब

स्कूली शिक्षा से भी इस व्यक्ति ने ज़्यादा कुछ सीखा नहीं। न तो हिन्दी बोधगम्य लिखता है और अंग्रेज़ी लिखता है, तब तो अत्याचार ही कर डालता है! ऊपर से चोरी और झूठ पकड़े जाने पर इनके मुंह से अगड़म-बगड़म ही निकल रहा है! जो भी हो, खाते-पीते किसानों के बारे में लेनिन की अवस्थिति नीचे देखें:

"Consequently, the well-to-do peasants (the top two groups) engage in what is commercial cultivation, and secure a gross money income ranging from 574 to 1,500 rubles per annum. This commercial cultivation then **becomes capitalist farming, for the areas cultivated by the well-to-do peasants exceed the family labour norm (i.e., the amount of land that a family can cultivate by its own labour), and compel them to resort to the hiring of workers**: in the three northern uyezds of Taurida Gubernia, the author estimates, the well-to-do peasants hire over 14,000 rural workers. The poor peasants, on the contrary, "provide workers" (over 5,000), that is, resort to the sale of their labour-power, since the income from cultivating the land amounts, in the 5 to 10 dess. group, for example, to only about 30 rubles in cash per household. We observe here, consequently, **the very process of the creation of a home market that is dealt with by the theory of capitalist production—the "home market" grows as a result of the conversion into a commodity of the product of commercial, entrepreneur farming, on the one hand, and of the conversion into a commodity of the labour-power sold by the badly-off peasants, on the other.**
…

"We see, accordingly, that **the well-to-do peasants, notwithstanding the fact that <u>they are best provided with allotment land, concentrate in their hands the bulk of the purchased and the rented land and turn into small landowners and capitalist farmers…</u>**
<u>"Thus the well-to-do peasantry are far better supplied with implements than the poor and even the middle peasantry.</u> It is sufficient to glance at this table to see how totally fictitious are the "average" figures which people are so fond of bringing into play when they talk of the "peasantry". The commercial cultivation of the **peasant bourgeoisie** is accompanied here by **commercial livestock farming**, namely, the breeding of coarse-wool sheep. Regarding implements, we shall quote in addition figures for **improved implements**, which we have taken from Zemstvo statistical returns. Out of the total reaping and mowing machines (3,061), 2,841, or 92.8%, belong to the **peasant bourgeoisie** (5 of the total households).

"The further the penetration of commodity production into crop cultivation, and, consequently, the keener the competition among the agriculturists, the struggle for land and for economic independence, the more vigorously must this law be manifested, **a law which leads to the ousting of the middle and poor peasants by the peasant bourgeoisie."** (Lenin, **The Development of Capitalism in Russia**, **Chapter II. The Differentiation of the Peasantry**, *our emphasis*)

उपरोक्त चर्चा से साफ़ है कि *माटसाब* यह "बौद्धिक" हेराफेरी और जालसाज़ी अपनी चोरी पकड़े जाने पर कर रहे हैं। लेनिन के अनुसार किसान बुजुआज़ी ग्रामीण पूंजीपति वर्ग या ग्रामीण बुर्जुआज़ी का हिस्सा ही है, जैसा कि हमने विस्तारपूर्वक अपनी पिछली आलोचना में भी दिखलाया था, जिसके बाद "महासचिव" अजय सिन्हा और "यथार्थवादी" कुलकवादी मण्डली का नवीनतम "बौद्धिक" और राजनीतिक केंचुल नृत्य शुरू हो गया है। नामों के अन्तर के मूर्खतापूर्ण और बचकाने तर्क के पीछे छिपने की कोशिश करके मास्टरजी अपनी वैचारिक नग्नता छिपा नहीं सके हैं और बहस में अपनी भद्द और पिटवा रहे हैं।

माटसाब द्वारा उत्पादन सम्बन्ध और वर्ग संघर्ष का यह हास्यास्पद अंतर इसलिए ही खड़ा किया गया है कि वह अपनी ग़लती और झूठ को छिपा सकें और साथ ही कुलकपरस्ती भी निभा सकें। पिछली बार इन्होंने जितनी छाती पीटी थी कि 'किसान बुर्जुआज़ी' को पूंजीपति वर्ग नहीं कहना चाहिए अब उसे यह फिर से धूर्तता और "बौद्धिक"

बेईमानी करके छिपाना चाहते हैं। बस इनके कुतर्कों के पीछे ढेर सारी नैतिक बमबारी होती है। भूतपूर्व एसयूसीआई वालों के साथ रोज़ कुलकों के मेले में घूमेंगे, तो ऐसा तो होगा ही!

इस बार भी कुलकों के राजनीतिक नमक का हक़ अदा करते हुए "महासचिव" अजय सिन्हा धनी किसानों के बारे में फिर मूर्खतापूर्ण प्रलाप जारी रखते हैं और कहते हैं कि लेनिन के अनुसार केवल ऊपरी तबका ही ऐसा था जिसे कि कुलक कहा जा सकता है जबकि धनी किसानों के बड़े हिस्से को पूंजीपति नहीं कहा जा सकता है। उपरोक्त उद्धरणों में और हमारी पिछली आलोचना में भी हमने लेनिन के हवाले से दिखलाया है कि लेनिन का कोई ऐसा मानना नहीं था। हालांकि अपने पिछले लेखों में यह बौद्धिक बौना साफ़ तौर पर कुलकों और धनी किसानों को भी सर्वहारा क्रान्ति का समर्थक बता रहा था, जिससे इस बार वह मुकर गया है। यहां पटना के दोन किहोते महोदय अपनी कुलकपरस्ती के चलते लेनिन को संशोधित करने में ज़रा भी वक़्त नहीं लगाते हैं। लेनिन के ऊपर लगातार *माटसाब* वैचारिक हमले करते हैं।

दरअसल *दोन किहोते दि ला पटना* और "यथार्थवादी" मण्डली अपनी कुलकपरस्त अवस्थितियों में बुरी तरह से फंस गए हैं और उन्हें कोई आड़ लेकर बहस से भागना है। आप देख सकते हैं कि 'किसान बुर्जुआज़ी' के सवाल पर "महासचिव" अजय सिन्हा ने अपने पिछले लेख में पहले ख़ुद लेनिन की परिभाषा को ही उद्धृत किया था लेकिन जब हमने दिखाया कि उन्होंने इस विषय में लेनिन की अवस्थिति ग़लत समझी है और साथ ही लेनिन को उद्धृत करके हमने यह भी दिखाया कि लेनिन 'किसान बुर्जुआज़ी' को पूंजीपति वर्ग का हिस्सा ही मानते थे तो अब यह जनाब कहते हैं कि इस विषय में लेनिन और उनकी पेशकश में केवल शब्दों का अंतर है। यह बौद्धिक बौना बेईमानी करने और झूठ पकड़े जाने के बाद बिलकुल नंगा होने पर भी अपनी ग़लती स्वीकार नहीं करता है! क्या ऐसे व्यक्ति से बहस हो सकती है? हमारा मानना है कि पटना के दोन किहोते महोदय और "यथार्थवादी' बौड़म मण्डली अब पाठकों के सामने ठीक से नंगे हो चुके हैं और अब केवल कुतर्कों का मकड़जाल ही 'यथार्थ'/'दि ट्रूथ' पत्रिका के पन्नों पर पेश किये जा रहे हैं।

3. *माटसाब* की तीसरी "ऐतिहासिक" बन्दरकुद्दी: *दोन किहोते दि ला पटना* ने 'श्रमशक्ति का मूल्य' से "श्रम का मूल्य" तक का सफ़र कैसे तय किया?

माटसाब जिस बिंदु पर सबसे अधिक नंगे हुए हैं (हालाँकि उनकी तमाम मूर्खताओं का ऐसा कोई वरीयता क्रम बनाना बेहद मुश्किल काम है) वह है समाजवाद में श्रमशक्ति के मूल्य की मौजूदगी का उनका ग़लत दावा जिसे वह चाहकर भी अपने झूठों के अम्बार के पीछे छिपा नहीं सके हैं। *माटसाब* अपने पिछले लेख में इस बात से मुकरने के बाद कि समाजवाद के अंतर्गत श्रमशक्ति माल होती है अब इस बार फिर यह साबित करने की नयी कोशिश करते हैं कि श्रमशक्ति माल होती है। मतलब कि मेंढक भी इनकी "बौद्धिक" उछल-कूद देखकर शरमा जाएँ! हालाँकि यह काम उन्होंने इतने भोंडे तरीक़े से अंजाम दिया है कि सोचकर हँसी भी आती है और हैरानी भी होती है कि ख़ुद को एक "अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी" का "महासचिव" होने का दावा ठोकने वाले इस व्यक्ति का बौद्धिक स्तर क्या है। लेकिन अफ़सोस भी होता है कि भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन में ऐसे बौद्धिक जोकर भी पाए जाते हैं।

हमने मौजूदा बहस की शुरुआत से ही कहा है कि *माटसाब* का मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के मामले में हाथ कुछ ज़्यादा ही तंग है। यह महोदय मूल्य, बेशी मूल्य, श्रम शक्ति, उत्पादन क़ीमतें, बाज़ार क़ीमत आदि जैसी बुनियादी अवधारणाएं भी नहीं समझते हैं लेकिन बावजूद इसके इन्होंने हाल में भूमि लगान पर एक लेख तक लिख डाला है! मूर्खता का 'रेन ऑफ़ टेरर' फैलाने वाले इस लेख की साथी अभिनव द्वारा लिखित विस्तृत आलोचना आप यहाँ पढ़ सकते हैं, जो कि वैसे भी मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की इन बुनियादी अवधारणाओं को समझने के लिए बेहद महत्त्वपूर्ण निबन्ध है-

https://redpolemique.wordpress.com/2021/05/18/ajay-sinha-aka-don-quixote-de-la-patnas-disastrous-encounter-with-marxs-theory-of-ground-rent/

फेसबुक पर यह महोदय लगातार इजारेदार क़ीमत और इजारेदारी लगान पर अभी तक बकवास लिखते जा रहे हैं, जिसका मार्क्स के राजनीतिक अर्थशास्त्र से कोई लेना-देना नहीं है। जो व्यक्ति सट्टेबाज़ क़ीमतों को इजारेदार क़ीमतें बताता हो और इनके बीच का फ़र्क भी नहीं जानता हो, जिसका दावा यह है कि इजारेदार पूँजीवाद के इस दौर में इजारेदारियों द्वारा वसूली जाने वाली इजारेदार क़ीमतें मूल्य के नियम से स्वतंत्र हो गयी हैं और इजारेदारियां मार्क्स के शब्दों में 'अतिरिक्त मुनाफ़ा' नहीं बल्कि *माटसाबीय* "अधिकतम मुनाफ़ा" वसूलेंगी और यह किसी नियम से विनियमित या नियन्त्रित नहीं होंगी, ऐसे बौद्धिक जोकर को कोई भी संजीदा व्यक्ति गंभीरता से ले सकता है? साथ ही, इन्होंने लोगों को धमकी भी दी है कि "बौद्धिक" आतंकवाद के अपने अगले प्रयास के तौर पर यह इजारेदार क़ीमतों पर एक वृहद् लेख लिखेंगे! पाठकों, सावधान हो जाओ, अपनी-अपनी जान बचाओ!

बहरहाल, मौजूदा चर्चा पर वापस आते हैं। इस बार *माटसाब* अपनी पिछली मूर्खतापूर्ण अवस्थिति से चार क़दम आगे निकल गए हैं और अब "श्रम के मूल्य" के सिद्धान्त पर इनके "बौद्धिक" खच्चर आकर रुके हैं! इस हिस्से में उन्होंने *डिटेक्टिव* बनने की भी कोशिश की है लेकिन जैसा उत्पल दत्त ने सत्यजीत रे के जासूसों के बारे में कहा था कि ऐसी ज़मीन पर जहां पुर्नजागरण और प्रबोधन के दौर के ज़रिये पूंजीवाद न आया हो बल्कि औपनिवेशिक व्यवस्था में जन्मा हो वहां मध्य वर्ग से आने वाले जासूस भी जन्म से ही बौने होंगे। सत्यजीत रे का ब्योमकेश बख्शी शरलॉक होम्स का ही बौना संस्करण था। लेकिन हमारे *दोन क्विहोते दि ल पटना* तो सत्यजीत रे के जासूसों से भी ज़्यादा बौने हैं और इसलिए इनकी जासूसी हरक़तें रोमांच कम हास्य ज़्यादा पैदा करती हैं!

वह पुरातात्विक संधान करके हमारे 8 साल पुराने एक लेख में से एक उद्धरण छांट लाते हैं, उसे सन्दर्भ से काट देते हैं और पाठकों के सामने एक गुत्थी छोड़ते हैं कि वे देखें कि उद्धरण में क्या लिखा है। इसके कुछ देर बाद पटना का यह बौद्धिक बौना उछल पड़ता है और बौद्धिक निर्वस्त्रता की स्थिति में यूरेका-यूरेका चिल्ला पड़ता है! क्या हास्यास्पद हरक़त है यह? जारी बहस में उठाये गए वैध सवालों का जवाब देने की बजाय हमारे *माटसाब* पुरातात्विक उत्खनन के बूते अपनी ग़लत अवस्थितियों का वैधीकरण ढूँढ रहे हैं और इसके लिए वह हमारे पुराने लेखन पर काफी निर्भर करते हैं। क्योंकि बहस में ही नहीं, *दोन क्विहोते दि ला पटना* आम तौर पर भी हमारे लेखन पर काफी निर्भर करते हैं क्योंकि उनको चौर्य-लेखन के लिए काफ़ी माल-मत्ता जो वहाँ से मिल जाता है! लेकिन जब कोई व्यक्ति जारी बहस में आलोचना के बाद निरुत्तर हो जाने पर अपनी ग़लती की स्वीकारोक्ति करने के बजाय इस तरह की खोजबीन की कार्यवाई में व्यस्त होता है तो वह वास्तव में बहस में उसके लिए दिक्क़ततलब बन चुके प्रश्नों से भाग रहा होता है और बहस में उठे तमाम मुद्दों का जवाब देने की जगह इस प्रकार के हास्यास्पद कारनामे अंजाम देता है। इस मसले पर हम आगे आयेंगे। लेकिन उससे पहले उनकी नयी बन्दरकुद्दी का थोड़ा आनन्द ले लेते हैं!

माटसाब ने एक बार फिर 'श्रमशक्ति के मूल्य' के प्रश्न पर जलेबियाँ पारी हैं और अब "श्रम के मूल्य" की और अधिक मूर्खतापूर्ण बात को भी वह लेकर आ गए हैं। नीचे दिए उद्धरणों में पाठक स्वयं *माटसाब* की उछल-कूद देखें कि वह कैसे एक बार फिर अपनी अवस्थिति बदलते हैं। हालांकि इस सवाल पर उन्होंने इतनी बार अवस्थिति बदली है कि उनके इस पथ को पकड़ पाना असम्भव-सा हो गया है। इस प्रश्न पर उनकी अनिश्चितता *इलेक्ट्रोन* की अनिश्चितता को भी पार कर गई है! खैर, हम आपको उनकी पिछले लेख में पेश की गयी अवस्थिति के ज़रिये दिखाएंगे कि यह बातबदलू बौना कितनी चालाकी करने की कोशिश करता है।

इस प्रश्न पर *माटसाब* की पुरानी अवस्थिति निम्न थी:

''It means that procurement price the collective farms got from the state contained cost plus the *value of collective peasants' own labour power*. Hence what was paid above cost by the Soviet State was equal (in money for or in kind) to the value of the *peasants' own labour power*. And hence we can conclude that a Soviet collective farm peasant was paid above cost but what was above the cost can be considered to be the *value of his own labour power*.'' (*What the new apologists of corporates are and how they fight against the revolutionaries*, 'The Truth', Issue 11)

और यह भी देखें:

"What I want to prove here is that in socialism, labour power is not sold or bought it is true but its value remains in existence.

"So, it is only necessary labour that belongs to him (a worker) under capitalism. What happens under socialism, as we have mentioned above, too is that Under socialism, the total labour belongs to him, either directly or indirectly. When directly, his **wages i.e. the value of his labour power** increases which will get reflected." (Here Comes Alive Not one but many inverted Don Quixotes! 'The Truth', Issue- 12)

पाठक देख सकते हैं कि उपरोक्त उद्धरणों में पटना के दोन किहोते महोदय साफ़ कहते हैं कि समाजवादी समाज में मज़दूरों को मिलने वाली उजरत श्रम शक्ति के मूल्य के बराबर थी यानी दरअसल उनकी श्रम शक्ति माल थी।

अब *माटसाब* की नयी अवस्थिति यह है:

''सबसे पहले तो यह समझ लें कि श्रम के मूल्य का सार रूप में अर्थ श्रमशक्ति का मूल्य ही होता है। दूसरी बात, श्रमशक्ति माल नहीं रह जाने से दो चीजें मूल रूप से होती हैं; **एक,** मजदूरी को तय करने में इसकी रेग्युलेटर वाली भूमिका ख़त्म हो जाती है और **दूसरा,** श्रमशक्ति रूपी माल के मूल्य का नियम अर्थात श्रमशक्ति रूपी माल के दायरे से मूल्य के नियम का अस्तित्व गायब हो जाता है।'' ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

और देखें:

"जैसे ही हम सामाजिक श्रम के लागत या मूल्य की बात करते हैं (समाजवाद यानी साम्यवाद की पहली मंजिल में हमें ऐसा ही करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, क्योंकि मूल्य के रूप के बिना हम काम नहीं चला सकते और भौतिक साधनों की प्रचुरता कायम किये बिना इस बाधा पर हम विजयी नहीं हो सकते हैं, यानी तब तक हमें किसी न किसी रूप में बुर्जुआ मानक के आधार पर ही आपस में विनिमय करना पड़ता है), वैसे ही हमें खर्च हुई कुल मानव श्रमशक्ति के उस हिस्से के मूल्य के आंकलन के बारे में विचार करना पड़ता है, चाहे हम बात सामाजिक श्रम की ही क्यों न कर रहे हों, क्योंकि **श्रम के मूल्य का सार श्रमशक्ति का मूल्य ही होता है।" (**"मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ') (*ज़ोर हमारा*)

अरे बाप रे! "श्रम का मूल्य"? इस महामूर्खतापूर्ण दलील पर हम बाद में आयेंगे लेकिन पहले पाठक देखें कि किस प्रकार अब यह बौद्धिक बौना उर्फ़ "महासचिव" अजय सिन्हा यहाँ पर अपनी पुरानी अवस्थिति से पलटी मार चुके हैं और बता रहे हैं कि समाजवाद में श्रमशक्ति माल नहीं होती है! जितनी सही बात इनके उपरोक्त उद्धरणों में कही गयी है वह इन्होंने हमारी आलोचना से ही चुराई है और *माटसाब* इसे ऐसे प्रस्तुत कर रहे हैं कि यह इनका मौलिक चिंतन है। वैसे *दोन किहोते दि ला पटना "ओरिजिनल थिन्किंग"* के बड़े शैदायी हैं जो इनके अनुसार बाक़ी लोगों की समझ में नहीं आती है! जैसे कि मौजूदा धनी किसान आन्दोलन में इनकी कुलकपरस्ती असल में इनकी "*ओरिजिनल थिन्किंग"* है जो इनके अनुसार हम जैसों की समझ से परे है! बिलकुल ठीक कहा आपने *माटसाब*। **यहाँ पर भी बस, *माटसाब* के ही शब्दों को उधार लेते हुए, "नामों का मामूली-सा अंतर" है। जिसे *माटसाब "ओरिजिनल थिन्किंग"* कहते हैं उसे वास्तविकता में मौक़ापरस्ती, कुलकपरस्ती और वर्ग सहयोगवाद के नाम से जाना जाता है!** बहरहाल, मास्टरजी उपरोक्त उद्धरण में अपनी पुरानी मूर्खतापूर्ण बात बदलने के साथ ही दूसरी हास्यास्पद थीसिस भी उसी झटके में पेश कर डालते हैं- "श्रम का मूल्य" श्रमशक्ति का मूल्य होता है!

माटसाब द्वारा "समाजवाद में श्रम शक्ति माल होती है" की अपनी पुरानी अवस्थिति से इस 180 डिग्री पैंतरापलट का कारण क्या है? कारण हमारी आलोचना है जिससे बचने के लिए ही हमारे मास्टरजी नयी चाल खेलते हैं। वह पहले बता रहे थे कि श्रमशक्ति का मूल्य मज़दूरों को उजरत के रूप में प्राप्त होता है लेकिन अब कह रहे हैं कि यह "श्रम का मूल्य" होता है! इनकी नयी अवस्थिति की महामूर्खताओं को उजागर करने से पहले वह कारण भी देख लिया जाए जिसके चलते *माटसाब* ने अपनी अवस्थिति बदली है।

हमने उनकी पुरानी अवस्थिति की निम्न आलोचना रखी थी:

"अगर श्रमशक्ति का मूल्य होता है तो उसका यही मतलब है कि वह माल है। क्योंकि किसी वस्तु के मूल्य के निर्धारण का प्रश्न ही तब उठता है, जबकि उसका विनिमय लक्षित हो। यदि *माटसाब* के अनुसार सोवियत समाजवादी संक्रमण में श्रमशक्ति का मूल्य महज़ आकलित भी होता था तो निश्चित तौर पर यह माल ही थी। उसका विनिमय होने का यह अर्थ पूंजीवाद में भी नहीं होता है कि मज़दूर एक झोले में रखकर अपनी श्रमशक्ति पूंजीपति को बेच रहा हो; पूंजीवादी उत्पादन पद्धति में भी श्रमशक्ति के मूल्य का आकलन ही होता है और उसके अनुसार भुगतान होता है। यही श्रमशक्ति का विनिमय है और यही श्रमशक्ति का माल होना है। अगर *माटसाब* ने दूसरी कक्षा के किसी बौड़म बच्चे के समान यह कल्पना की थी कि श्रमशक्ति के विनिमय होने का अर्थ यह है कि उसे किसी पोटली में रखकर एक हाथ से दूसरे हाथ में स्थानान्तरित किया जाता है, तो कहना पड़ेगा कि रंगनायकम्मा की पुस्तक "बच्चों के लिए अर्थशास्त्र" भी उनके बहुत काम नहीं आएगी, या उसे समझने में उन्हें मूर्खेश असीम की सहायता लेनी पड़ेगी,

हालांकि उसके बाद किस प्रकार का आतंकवादी नतीजा सामने आ सकता है, इसके बारे में हम अभी कुछ अटकलें ही लगा सकते हैं। ग़ज़ब मूर्ख व्यक्ति है यह!

"मास्टरजी श्रमशक्ति के भौतिक अस्तित्व और माल के रूप में उसके सामाजिक अस्तित्व के बीच भ्रमित हो जाते हैं, वह उसके उपयोग–मूल्य के रूप में अस्तित्व (जो कि हर सामाजिक व्यवस्था के लिए प्रासंगिक है) और मूल्य के रूप में उसके अस्तित्व (जो कि केवल पूंजीवादी व्यवस्था के लिए प्रासंगिक है) के बीच बुरी तरह से कन्फ्यूज़ हो गये हैं। यह दरअसल राजनीतिक अर्थशास्त्र का इमला न समझने के समान है। मूल्य एक सामाजिक सम्बन्ध है, कोई भौतिक वस्तु नहीं। जब तक दो पक्षों में विनिमय की आवश्यकता नहीं होती, तब तक मूल्य के आकलन का प्रश्न ही नहीं उठता है। यह दो पक्षों के बीच का सामाजिक सम्बन्ध है, जो कि इसके आकलन को निर्धारित करता है। मास्टरजी को यही बात समझ में नहीं आती है, इसलिए स्तालिन के उद्धरण को भी वह समझ नहीं पाए हैं। हमने पहले भी कहा था कि इस बौद्धिक बौने को मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के 'क ख ग' को किसी की सहायता से पेंसिल टिका–टिकाकर पढ़ने की आवश्यकता है।"(सनी, पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय का नया जवाब या एक बातबदलू बौद्धिक बौने की बदहवास, बददिमाग़, बदज़ुबान बौखलाहट, बेवकूफियां और बड़बड़ाहट)

माटसाब की नयी अवस्थिति दरअसल हमारी इस पुरानी आलोचना से बचने की ज़मीन से ही निकली है। इसे उनका *इलेक्ट्रान* सरीखा चरित्र कहें या मेंढक की तरह फुदकना कहें, हम सच में समझ नहीं पा रहे हैं कि ऐसी हरक़त को क्या नाम दें! अब दोन किहोते महोदय यह सिद्ध करना चाहते हैं कि श्रमशक्ति का मूल्य वास्तव में श्रम का मूल्य होता है! वह बताते हैं कि क्योंकि श्रम का मूल्य ही वास्तव में श्रमशक्ति का मूल्य होता है इसलिए समाजवाद में मज़दूरों को श्रमशक्ति का मूल्य मिलता है! मतलब यह कुतर्की व्यक्ति कुतर्क करने से बाज़ नहीं आएगा! और अपने एक कुतर्क को ढांपने के लिए यह उससे भी बड़े और गहरे कुतर्कों की खाई में गिरता चला जाता है! *दोन किहोते दि ला पटना* की यह नयी मूर्खतापूर्ण बात इतने स्तरों पर ग़लत है कि इसकी आलोचना करना भी जोखिम से भरा काम है। आइये मास्टरजी की मूर्खता के पहाड़ की पड़ताल करें।

माटसाब का नया कुतर्क यह हैं कि श्रमशक्ति का मूल्य वास्तव में श्रम का मूल्य होता है। यह सचमुच दुर्भाग्यपूर्ण है कि हमें मार्क्सवाद की बुनियादी बातें भी इस बहस में *माटसाब* को बतानी पड़ रही हैं। लेकिन इस दुर्भाग्य से *माटसाब* को क्या लेना-देना! मजाल है कि उन्हें इससे कोई फर्क पड़ता हो! उन्हें लगता है कि श्रम शक्ति के मूल्य को "श्रम का मूल्य" कहना एक ही बात है, यानी यह दोनों एक-दूसरे के समानार्थी हैं और इस मसले पर वह मार्क्स को अपने समर्थन में उद्धृत करने का हास्यास्पद प्रयास भी करते हैं जबकि मार्क्स वहाँ ठीक इसके विपरीत बात कर रहे हैं और "श्रम के मूल्य" के बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों के अहमकाना सिद्धान्त का मखौल उड़ा रहे हैं। यह भी *माटसाब* की पुरानी आदत है। तमाम उद्धरणों का सन्दर्भ और बात समझे बगैर वह बस *इन्टरनेट* के *सर्च टूल* का अन्धाधुन्ध इस्तेमाल करते हैं और फिर अपने ही ख़िलाफ़ जाते ऐसे उद्धरणों को खुद ही पेश भी करते हैं! देखें *माटसाब* ने क्या बोला है:

"सबसे पहले तो यह समझ लें कि श्रम के मूल्य का सार रूप में अर्थ श्रमशक्ति का मूल्य ही होता है।" ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

इसके बाद मास्टरजी मार्क्स के इस उद्धरण का सहारा लेते हैं:

"What economists therefore call value of labour, is in fact the value of labour-power, as it exists in the personality of the labourer, which is as different from its function, labour, as a machine is from the work it performs…" ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

यहां असल में मार्क्स "श्रम के मूल्य" की मार्क्स-पूर्व राजनीतिक अर्थशास्त्रियों की भ्रान्तिपूर्ण अवधारणा का खण्डन कर रहे हैं! मार्क्स के उपरोक्त कथन में कही गयी बात बुर्जुआ राजनीतिक अर्थशास्त्रियों की इस अवधारणा का अनुमोदन नहीं है, जैसा कि *माटसाब* को ग़लतफहमी हो गयी है, बल्कि इसकी आलोचना है। एक बार फिर *इन्टरनेट* पर *सर्च टूल* का सहारा लेकर *माटसाब* अपने पक्ष में मार्क्स से उद्धरण तलाशने की कोशिश करते हैं, फिर एक उद्धरण ढूँढ भी लाते हैं लेकिन *माटसाब* का दुर्भाग्य यह है कि एक बार फिर वह मार्क्स का एक ऐसा उद्धरण पेश कर रहे हैं जिसमें मार्क्स उनके "श्रम के मूल्य" जैसी मूर्खतापूर्ण बात की आलोचना पेश कर रहे हैं। अब तो हमें यकीन हो चला है कि इस व्यक्ति ने 'पूँजी' तो दूर, मार्क्स की 'उजरती श्रम और पूँजी' भी नहीं पढ़ी है।

और इसके दावे देखिये क्या हैं! पटना के दोन किहोते महोदय अपनी मूर्खता को ढंकने के लिए क्या-क्या अजीबोग़रीब कारनामे अंजाम दे रहे है। ज़रा देखें मार्क्स का "श्रम के मूल्य" को लेकर क्या कहना था, जिस पर मार्क्स ने 'पूँजी', खण्ड 1 के अध्याय 19, "The Transformation of the Value (and Respective Price) of Labour-Power into Wages", में विस्तारपूर्वक चर्चा की है:

"On the surface of bourgeois society the wage of the labourer appears as the price of labour, a certain quantity of money that is paid for a certain quantity of labour. **Thus people speak of the value of labour and call its expression in money its necessary or natural price.** On the other hand they speak of the market-prices of labour, i.e., prices oscillating above or below its natural price. **But what is the value of a commodity? The objective form of the social labour expended in its production. And how do we measure the quantity of this value? By the quantity of the labour contained in it. How then is the value, e.g., of a 12 hour working-day to be determined? By the 12 working-hours contained in a working day of 12 hours, which is an absurd tautology."** **(**Marx**, Capital, Volume-1)** (*ज़ोर हमारा*)

यानी मार्क्स के अनुसार "श्रम के मूल्य" की बात करना एक *टॉटोलोजी* है, एक निरर्थक दुहराव है और यह कहने के समान है कि "श्रम को श्रम से मापना" या "मूल्य को मूल्य से मापना" क्योंकि किसी भी माल का मूल्य उसमें लगे सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल से निर्धारित होता है, अब चूंकि पूँजीवाद में मज़दूर को मिलने वाली मज़दूरी सतही तौर पर उसकी मेहनत के मोल या दाम के तौर पर दिखलाई पड़ती है तो मार्क्स पूछते हैं कि उसका मूल्य कैसे निर्धारित किया जायेगा? बुर्जुआ अर्थशास्त्री इसका जवाब नहीं दे पाते हैं क्योंकि वह श्रम के मूल्य की बात करते हैं, श्रमशक्ति के मूल्य की नहीं, जिसका मार्क्स के अनुसार अपने आप में कोई मतलब नहीं है। हम यहाँ मार्क्स का इसी अध्याय से एक लम्बा उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं जिसमें उन्होंने क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र की इस भ्रान्तिपूर्ण अवधारणा की विस्तृत आलोचना पेश की है क्योंकि *माटसाब* ने इस बार "श्रम के मूल्य", उजरत, अतिरिक श्रम और बेशी श्रम को लेकर भी काफी ऊल-जुलूल "सिद्धान्त प्रतिपादन" किया है। अगर दोन *किहोते दि ला पटना* ने यह आज तक न पढ़ा हो, जिसकी उम्मीद ही ज़्यादा है, तो इसे पढ़ लें और साथ ही समझ भी लें, जिसकी वैसे तो उम्मीद कम है (लेकिन उम्मीद पर तो दुनिया क़ायम है!), ताकि अपने कुतर्की दिमाग़ को आइन्दा से नियन्त्रण में रखें और मार्क्सवाद के बारे में अनाप-शनाप बकना बंद करें, हालांकि इसकी भी उम्मीद कम ही है। देखें मार्क्स आगे क्या कहते हैं:

"That which comes directly face to face with the possessor of money on the market, is in fact not labour, but the labourer. **What the latter sells is his labour-power**. As soon as his labour actually begins, it has already ceased to belong to him; it can therefore no longer be sold by him. **Labour is the substance, and the immanent measure of value, but has itself no value.**

"**In the expression "value of labour," the idea of value is not only completely obliterated, but actually reversed. It is an expression as imaginary as the value of the earth.** These imaginary expressions, arise, however, from the relations of production themselves. They are categories for the phenomenal forms of essential relations. That in their appearance things often represent themselves in inverted form is pretty well known in every science except Political Economy.

"**Classical Political Economy borrowed from every-day life the category "price of labour" without further criticism, and then simply asked the question, how is this price determined?** It soon recognized that the change in the relations of demand and supply explained in regard to the price of labour, as of all other commodities, nothing except its changes i.e., the oscillations of the market-price above or below a certain mean. If demand and supply balance, the oscillation of prices ceases, all other conditions remaining the same. But then demand and supply also cease to explain anything. **The price of labour, at the moment when demand and supply are in equilibrium, is its natural price, determined independently of the relation of demand and supply. And how this price is determined is just the question.** Or a larger period of oscillations in the market-price is taken, e.g., a year, and they are found to cancel one the other, leaving a mean average quantity, a relatively constant magnitude. This had naturally to be determined otherwise than by its own compensating variations. **This price which always finally predominates over the accidental market-prices of labour and regulates them, this "necessary price" (Physiocrats) or "natural price" of labour (Adam Smith) can, as with all other commodities, be nothing else than its value expressed in money. In this way Political Economy expected to penetrate athwart the accidental prices of labour, to the value of labour. As with other commodities, this value was determined by the cost of production. But what is the cost of production - of the labourer, i.e., the cost of producing or reproducing the labourer himself?** This question unconsciously substituted itself in Political Economy for the original one; for the search after the cost of production of labour as such turned in a circle and never left the spot. **What economists therefore call value of labour, is in fact the value of labour-power, as it exists in the personality of the labourer, which is as different from its function, labour, as a machine is from the work it performs. Occupied with the difference between the market-price of labour and its so-called value, with the relation of this value to the rate of profit, and to the values of the commodities produced by means of labour, &c., they never discovered that the course of the analysis had led not only from the market-prices of labour to its presumed value, but had led to the resolution of this value of labour itself into the value of labour-power. Classical economy never arrived at a consciousness of the results of its own analysis; it accepted uncritically the categories "value of labour," "natural price of labour,"** &c., **as final and as adequate expressions for the value-relation under consideration, and was thus led, as will be seen later, into inextricable confusion and contradiction, while it offered to the vulgar economists a secure basis of operations for their shallowness, which on principle worships appearances only.**

"Let us next see how value (and price) of labour-power, present themselves in this transformed condition as wages.

"We know that the daily value of labour-power is calculated upon a certain length of the labourer's life, to which, again, corresponds a certain length of working day. Assume the habitual working day as 12 hours, the daily value of labour-power as 3s., the expression in money of a value that embodies 6 hours of labour. If the labourer receives 3s., then he receives the value of his labourpower functioning through 12 hours. If, now, this value of a day's labour-power is expressed as the value of a day's labour itself, we have the formula: Twelve hours' labour has a value of 3s. **The value of labour-power thus determines the value of labour, or, expressed in money, its necessary price.**

If, on the other hand, the price of labour-power differs from its value, in like manner the price of labour differs from its so-called value.

"**As the value of labour is only an irrational expression for the value of labour-power,** it follows, of course, that the value of labour must always be less than the value it produces, for the capitalist always makes labour-power work longer than is necessary for the reproduction of its own value. In the above example, the value of the labour-power that functions through 12 hours is 3s., a 381 Chapter 19 value for the reproduction of which 6 hours are required. The value which the labour-power produces is, on the other hand, 6s., because it, in fact, functions during 12 hours, and the value it produces depends, not on its own value, but on the length of time it is in action. Thus, we have a result absurd at first sight that labour which creates a value of 6s. possesses a value of 3s.

"We see, further: The value of 3s. by which a part only of the working day – i.e., 6 hours' labour-is paid for, appears as the value or price of the whole working day of 12 hours, which thus includes 6 hours unpaid for. **The wage form thus extinguishes every trace of the division of the working day into necessary labour and surplus labour, into paid and unpaid labour. All labour appears as paid labour.** In the corvée, the labour of the worker for himself, and his compulsory labour for his lord, differ in space and time in the clearest possible way. In slave labour, even that part of the working day in which the slave is only replacing the value of his own means of existence, in which, therefore, in fact, he works for himself alone, appears as labour for his master. All the slave's labour appears as unpaid labour. **In wage labour, on the contrary, even surplus labour, or unpaid labour, appears as paid. There the property-relation conceals the labour of the slave for himself; here the money-relation conceals the unrequited labour of the wage labourer.**

"**Hence, we may understand the decisive importance of the transformation of value and price of labour-power into the form of wages, or into the value and price of labour itself. This phenomenal form, which makes the actual relation invisible, and, indeed, shows the direct opposite of that relation, forms the basis of all the juridical notions of both labourer and capitalist, of all the mystifications of the capitalistic mode of production, of all its illusions as to liberty, of all the apologetic shifts of the vulgar economists.**

"If history took a long time to get at the bottom of the mystery of wages, nothing, on the other hand, is more easy to understand than the necessity, the raison d'etre, of this phenomenon.

"The exchange between capital and labour at first presents itself to the mind in the same guise as the buying and selling of all other commodities. The buyer gives a certain sum of money, the seller an article of a nature different from money. The jurist's consciousness recognizes in this, at most, a material difference, expressed in the juridically equivalent formula: "Do ut des, do ut facias, facio ut des, facio ut facias."

"**Furthermore, exchange-value and use-value, being intrinsically incommensurable magnitudes, the expressions "value of labour," "price of labour," do not seem more irrational than the expressions "value of cotton," "price of cotton."** Moreover, the labourer is paid after he has given his labour. In its function of means of payment, money realizes subsequently the value or price of the article supplied – i.e., in this particular case, the value or price of the labour supplied. **Finally, the usevalue supplied by the labourer to the capitalist is not, in fact, his labour-power, but its function, some definite useful labour, the work of tailoring, shoemaking, spinning, &c. That this same labour is, on the other hand, the universal value-creating element, and thus possesses a property by which it differs from all other commodities, is beyond the cognizance of the ordinary mind.**

"Let us put ourselves in the place of the labourer who receives for 12 hours' labour, say the value produced by 6 hours' labour, say 3s. For him, in fact, his 12 hours' labour is the means of buying the 3s. The value of his labour-power may vary, with the value of his usual means of subsistence, from 3

to 4 shillings, or from 3 to 2 shillings; or, if the value of his labour-power remains constant, its price may, in consequence of changing relations of demand and supply, rise to 4s. or fall to 2s. He always gives 12 hours of labour. Every change in the amount of the equivalent that he receives appears to him, therefore, necessarily as a change in the value or price of his 12 hours' work. This circumstance misled Adam Smith, who treated the working day as a constant quantity,10 to the assertion that the value of labour is constant, although the value of the means of subsistence may vary, and the same working day, therefore, may represent itself in more or less money for the labourer.

"Let us consider, on the other hand, the capitalist. He wishes to receive as much labour as possible for as little money as possible. Practically, therefore, the only thing that interests him is the difference between the price of labour-power and the value which its function creates. But, then, he tries to buy all commodities as cheaply as possible, and always accounts for his profit by simple cheating, by buying under, and selling over the value. Hence, he never comes to see that, **if such a thing as the value of labour really existed, and he really paid this value, no capital would exist, his money would not be turned into capital.**

"**Moreover, the actual movement of wages presents phenomena which seem to prove that not the value of labour-power is paid, but the value of its function, of labour itself.** We may reduce these phenomena to two great classes: 1.) Change of wages with the changing length of the working day. One might as well conclude that not the value of a machine is paid, but that of its working, because it costs more to hire a machine for a week than for a day. 2.) The individual difference in the wages of different labourers who do the same kind of work. We find this individual difference, but are not deceived by it, in the system of slavery, where, frankly and openly, without any circumlocution, labour-power itself is sold. Only, in the slave system, the advantage of a labour-power above the average, and the disadvantage of a labour-power below the average, affects the slave-owner; in the wage-labour system, it affects the labourer himself, because his labour-power is, in the one case, sold by himself, in the other, by a third person.

"**For the rest, in respect to the phenomenal form, "value and price of labour," or "wages," as contrasted with the essential relation manifested therein, viz., the value and price of labour power, the same difference holds that holds in respect to all phenomena and their hidden substratum. The former appear directly and spontaneously as current modes of thought; the latter must first be discovered by science. Classical Political Economy nearly touches the true relation of things, without, however, consciously formulating it. This it cannot, so long as it sticks in its bourgeois bourgeois skin.** (Marx, **Capital, Voulme 1***, emphasis ours*)

मार्क्स के उपरोक्त लम्बे उद्धरण की रोशनी में हम देख सकते हैं कि हमारे पटना के दोन किहोते वास्तव में क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र की "श्रम के मूल्य" की अतार्किक और परिघटनात्मक समझदारी को ही अपनी मूर्खतापूर्ण अवधारणा सिद्ध करने के लिए इस्तेमाल करते हैं कि समाजवाद में श्रमशक्ति का मूल्य "श्रम का मूल्य" होता है। यह मार्क्स के मूल्य के सिद्धान्त का कितना भयानक भोंडाकरण है यह सहज ही समझा जा सकता है। चूंकि *माटसाब* के लिए 'पूँजी' का उपरोक्त अंश "बौद्धिक" बदहज़मी पैदा कर सकता है तो उनकी सहूलियत के लिए हम यहाँ सोवियत राजनीतिक अर्थशास्त्र की पाठ्यपुस्तक से भी वह अंश दे रहे हैं जहाँ "श्रम के मूल्य" की अर्थहीन बुर्जुआ अवधारणा पर बात की गयी है, ताकि *माटसाब* कम से कम इसे आसानी से पचा सकें:

"The price of labour-power' is unlike the price of other commodities. When a commodity producer sells cloth, say, in the market, the sum of money which he receives is simply the price of the commodity which he has sold. **When a proletarian sells his labour-power to a capitalist and obtains a certain sum of money in the form of wages, that sum of money appears not as the price of the commodity labour-power but as the price of labour.**

"This comes about for the following reasons. First, the capitalist pays the worker his wages after the worker has expended his labour. Second, wages are fixed either in accordance with the amount of time worked (in hours, days, weeks) or in accordance with the quantity of product produced.Let us take our previous example. Let us suppose that the worker works 12 hours a day. During 6 hours he produces the value of 6 dollars, equal to the value of his labour-power. In the remaining 6 hours he produces the value of 6 dollars, which is appropriated by the capitalist as surplus-value. As the employer has hired the proletarian for a full working day, he pays him 6 dollars for the whole 12 hours of his labour. Thus a false impression is created, as though wages were the price of labour and 6 dollars were full payment for the whole of the I2-hour working day. In fact, the 6 dollars are/only the value of one day's labour-power, whereas the proletarian's labour has created value equal to 12 dollars. If wages at the given enterprise are worked out in relation to the product turned out, it looks as though the worker is paid for the labour expended in every unit of the commodity he has made, i.e., as above, that the whole of the labour expended by the worker has been fully paid for.

"**This deceptive appearance is not an accidental delusion.** It arises from the very conditions of capitalist production, under which exploitation is concealed, slurred over and the relations between the employer and the wage-worker appear in distorted form as relations between equal commodity producers.

In reality the wages of the wage-worker are not the value or price of his labour. If we suppose that labour is itself a commodity and has value, then the magnitude of this value must be measured by some means. Evidently, the magnitude of "the value of labour", as of any other commodity, must be measured by the amount of labour contained in it. Such a supposition creates a vicious circle: labour is measured by labour.

Further, if a capitalist were to pay a worker "the value of his labour", i.e., were to pay for his labour to the full extent, there would then be no source for the capitalist's wealth, i.e., no surplus-value, or, in other words, the capitalist mode of production could not exist.

Labour is the creator of the value of commodities, but labour is not itself a commodity and has no value. What in everyday life is called "the value of labour" is in reality the value of labour-power.

The capitalist buys on the market not labour but a special commoditylabour-power. The use of labour-power, i.e., the expenditure of the energy of the worker's muscles, nerves and brain, is the process of labour. The value of labour-power is always less than the value newly created by the worker's labour. Wages are the payment for only part of the working day, namely, for necessary labour-time. But in so far as wages take the form of payment for labour the impression is created that the whole of the working day is fully paid for. **For this reason Marx calls wages in bourgeois society the transmuted form of the value or price of labour-power.**

""Wages are not what they appear to be, namely the value, or price, of labour, but only a masked form for the value, or price, of labour-power." (Marx, "Critique of the Gotha Programme," Marx and Engels, Selected Works, 1950, English edition, vol. II, p. 27.)"

"Wages are the monetary expression of the value of labour power, its price, outwardly appearing as the price of labour.
…
"Wages conceal all traces of the division of the working day into necessary and surplus labour-time, into paid and unpaid labour, and so cover up the relation of capitalist exploitation."

एंगेल्स ने भी इस अवधारणा पर अपनी बात रखते हुए कहा था कि:

“All labour-time is entirely equal in value, the porter’s and the architect’s. So labour-time, and therefore labour itself, has a value. But labour is the creator of all values. It alone gives the products found in nature value in the economic sense. Value itself is nothing else than the expression of the socially necessary human labour materialised in an object. **Labour *can* therefore have *no* value. One might as well speak of the value of value,** or try to determine the weight, not of a heavy body, but of heaviness itself, as speak of the value of labour, and try to determine it. Herr Dühring dismisses people like Owen, Saint-Simon and Fourier by calling them social alchemists {D. K. G. 237}. His subtilising over the value of labour-time, that is, of labour, shows that he ranks far beneath the real alchemists. **And now let the reader fathom Herr Dühring's brazenness in imputing to Marx the assertion that the labour-time of one person is in itself more valuable than that of another {500}, that labour-time, and therefore labour, has a value—to Marx, who first demonstrated that labour *can* have *no* value, and why it cannot!**

“**We have already seen above (“Political Economy”, VI) that it is a contradiction in itself to speak of the value of labour.** As under certain social relations labour produces not only products but also value, and this value is measured by labour, the latter can as little have a separate value as weight, as such, can have a separate weight, or heat, a separate temperature. But it is the characteristic peculiarity of all social confusion that ruminates on "true value" {D. K. G. 78} to imagine that in existing society the worker does not receive the full "value" of his labour, and that socialism is destined to remedy this. Hence it is necessary in the first place to discover what the value of labour is, and this is done by attempting to measure labour, not by its adequate measure, time, but by its product. The worker should receive the "full proceeds of labour" {D. C. 324}. Not only the labour product, but labour itself should be directly exchangeable for products one hour’s labour for the product of another hour's labour. This however, gives rise at once to a very “serious” hitch. The *whole product is* distributed. The most important progressive function of society, accumulation, is taken from society and put into the hands, placed at the arbitrary discretion, of individuals. The individuals can do what they like with their “proceeds”, but society at best remains as rich or poor as it was. The means of production accumulated in the past have therefore been centralised in the hands of society only in order that all means of production accumulated in the future may once again be dispersed in the hands of individuals. One knocks to pieces one’s own premises; one has arrived at a pure absurdity.” (Engels, **Anti Duhring,** *emphasis ours*)

आप खुद देख सकते हैं कि “महासचिव” अजय सिन्हा ने एक बिलकुल ग़लत और ग़ैर-मार्क्सवादी अवधारणा के दम पर इस बात को सत्यापित करने की कोशिश की है कि समाजवाद में भी मज़दूरों को श्रमशक्ति के मूल्य का भुगतान होता था क्योंकि उनके अनुसार श्रमशक्ति का मूल्य और “श्रम का मूल्य” एक ही चीज़ हैं!

माटसाब के समझ में नहीं आया है कि समाजवाद में मालों का मूल्य सामाजिक श्रम की मात्रा से तय होता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि सामाजिक श्रम का कोई मूल्य होता है! सामाजिक श्रम स्वयं और कुछ नहीं बल्कि अपने 'जमे हुए रूप में' (in congealed form) या वस्तुकृत रूप में (objectified) मूल्य ही है। दूसरे शब्दों में, किसी भी माल उत्पादन की व्यवस्था में मालों का मूल्य उसमें निहित सामाजिक श्रम की मात्रा से तय होता है। सामाजिक श्रम का स्वयं कोई मूल्य नहीं होता है, बल्कि वह स्वयं मूल्य होता है।

माटसाब की यह नयी चरम मूर्खता यह भी दिखला देती है कि “महासचिव” महोदय ने ‘एंटी-ड्यूरिंग’ जैसी बुनियादी मगर बेहद ज़रूरी रचना तक नहीं पढ़ी है। यह बेहद सड़कछाप *ट्रिक* उन्होंने इसलिए अपनाई थी कि समाजवाद में सामाजिक श्रम के अनुसार वितरण को “श्रम के मूल्य” में तब्दील करें और इसे पुन: श्रमशक्ति के मूल्य में तब्दील कर सकें, लेकिन हम देख सकते है इसकी वजह से उनको लेने के देने पड़ गए हैं, और साँचो पान्ज़ाओं की बच्चा पार्टी के आगे जो फज़ीहत हुई सो अलग! हम ऊपर दिखा चुके हैं कि “श्रम का मूल्य” एक ग़लत अवधारणा है जिसे

क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र में इस्तेमाल किया जाता था और इसका मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। आइए अब *माटसाब* के दूसरे दावे को देखते हैं।

समाजवाद में मज़दूरों को उजरत मिलने के सवाल पर *माटसाब* के दिमाग़ की बत्ती अभी भी गुल है!

इस बार *माटसाब* इस सम्बन्ध में जो मूल्यांकन पेश कर रहे हैं वह यह है कि सोवियत रूस में मज़दूरों को उतना मिलता था जितना कि वह श्रमशक्ति के मूल्य के रूप में समाज को देते थे। *माटसाब* कहते हैं:

''*सामाजिक भंडार से जो उसे मिलता है वह उसके द्वारा खर्च किये गये श्रम की लागत यानी लागत मूल्य ही है।* इस तरह यहां श्रम के मूल्य रूप के बिना समाजवाद में वितरण का सवाल उठ खड़ा होता है। क्योंकि उपभोग की वस्तुओं के क्षेत्र में अभी भी बुर्जुआ अधिकार का साम्राज्य कायम रहता है, यानी मालों के तुल्य मूल्यों के विनिमय का सिद्धांत ही चलता है। समाजवाद में और पूंजीवाद में फर्क सिर्फ इतना होता है कि जहां समाजवाद में "मालों के विनिमय में तुल्य मूल्यों के विनिमय का अस्तित्व केवल **औसत** पर" टिका होता है, वहीं दूसरे में यह "हर अलग-अलग मामले में" होता है। ये सारी बातें मार्क्स की हैं।

"इसका अर्थ है कि समाजवाद में हालांकि श्रम का मूल्य रूप बना रहता है, क्योंकि साम्यवाद की पहली मंजिल में 'समान अधिकार' वास्तव में 'बुर्जुआ अधिकार' ही होता है, लेकिन श्रम शक्ति माल के रूप में अपना अस्तित्व खो देती है।'' ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

हम ऊपर पहले ही बता चुके हैं कि "श्रम का मूल्य" की बात करना अपने आप में मूर्खता है और मार्क्स के शब्दों में कहें तो "निरर्थक दुहराव" है। दूसरा, "महासचिव" अजय सिन्हा 'गोथा कार्यक्रम की आलोचना' से ही एक अंश पेश कर रहे हैं ,जिसे वास्तव में हमारे *माटसाब* समझ नहीं पाए हैं; बस वह मार्क्स द्वारा इस्तेमाल किये गए वाक्यांशों को अपनी अधकचरी समझदारी के बीच में रख कर चस्पां कर देते हैं। पहली बात तो मास्टर साहब फिर यहां वही मूर्खता दोहराते हैं कि समाजवाद में "श्रम का मूल्य'" बना रहता है। मूल्य एक सामाजिक सम्बन्ध है जो अमूर्त श्रम का किसी माल में वस्तुकरण होता है और चूंकि मूल्य का नियम समाजवाद में अभी मालों के विनिमय में मौजूद होता है तो इसकी गणना की जाती है। लेकिन सबसे मज़ेदार बात यह है कि यहां *माटसाब* मार्क्स के कथन का वह अर्थ निकाल बैठे हैं जो कि ड्यूहरिंग ने निकाला था! इसपर हम बाद में आएंगे लेकिन पहले मार्क्स के उस कथन को देख लेते हैं जिसके वाक्यांशों को उद्धृत कर *माटसाब* इठला रहे हैं:

"What we have to deal with here is a communist society, not as it has *developed* on its own foundations, but, on the contrary, just as it *emerges* from capitalist society; which is thus in every respect, economically, morally, and intellectually, still stamped with the birthmarks of the old society from whose womb it emerges. Accordingly, the individual producer receives back from society – after the deductions have been made – exactly what he gives to it. What he has given to it is his individual quantum of labor. For example, the social working day consists of the sum of the individual hours of work; the individual labor time of the individual producer is the part of the social working day contributed by him, his share in it. He receives a certificate from society that he has furnished such-and-such an amount of labor (after deducting his labor for the common funds); and with this certificate, he draws from the social stock of means of consumption as much as the same

amount of labor cost. The same amount of labor which he has given to society in one form, he receives back in another.

“Here, obviously, the same principle prevails as that which regulates the exchange of commodities, as far as this is exchange of equal values. Content and form are changed, because under the altered circumstances no one can give anything except his labor, and because, on the other hand, nothing can pass to the ownership of individuals, except individual means of consumption. But as far as the distribution of the latter among the individual producers is concerned, the same principle prevails as in the exchange of commodity equivalents: a given amount of labor in one form is exchanged for an equal amount of labor in another form.
“Hence, *equal right* here is still in principle – *bourgeois right*, although principle and practice are no longer at loggerheads, while the exchange of equivalents in commodity exchange exists only on the average and not in the individual case.” (Marx, Critique of Gotha Programme)

मार्क्स इस कथन में स्पष्ट करते हैं कि समाजवादी समाज में मज़दूर अपनी श्रमशक्ति का विनिमय नहीं करता है बल्कि वह जितना सामाजिक श्रम करता है उसी अनुसार उपभोग हेतु समाज से श्रम का ‘सर्टिफिकेट’ पाता है। अब वितरण का रूप और सार बदल चुका होता है। अब मज़दूर सामाजिक श्रम की एक निश्चित मात्रा के अलावा कुछ भी नहीं दे सकते हैं। उपभोग के साधन के वितरण में यह नियम काम करता है कि मज़दूर जितना सामाजिक श्रम देता है उसे बदले में उतना ही उसे प्राप्त होता है।

मार्क्स बताते हैं कि समाजवादी समाज में सम्तुल्यों का विनिमय अभी भी सारतः बुर्जुआ अधिकार ही हैं जो वास्तव में बराबरी नहीं देते हैं क्योंकि जब तक कि हम प्रचुरता की मंज़िल में नहीं पहुंचते हैं तब तक यह होना लाज़मी भी है। तब तक समाज में लोगों को उनकी ज़रूरत के अनुसार नहीं बल्कि उनके श्रम के अनुसार भुगतान ही किया जाएगा जो ग़ैरबराबरी की एक वस्तुगत ज़मीन मुहैय्या कराता है। लेकिन यह वितरण हर-हमेशा ही उत्पादन के मातहत होता है जिसके साधनों का मालिकाना समाजीकृत हो चुका है और राज्यसत्ता में सर्वहारा वर्ग है। यही वितरण को निर्धारित करता है। मार्क्स ‘गोथा कार्यक्रम की आलोचना’ में ही स्पष्ट करते हैं कि:

"Distribution in the first place should be distribution of the means of production: in whose hands are the means of production? This is the determinative question. Distribution of the means of production is what determines distribution of consumer goods." (Marx, ibid)

लेकिन *माटसाब* के उपरोक्त उद्धरण में हमने देखा कि वह सामाजिक वितरण को पूर्णत: मूल्य के नियम के मातहत मानते हैं। “महासचिव” अजय सिन्हा को अभी भी लगता है कि मज़दूरों को भुगतान “श्रम के मूल्य” के अनुसार होगा! क्योंकि उनके अनुसार “श्रम का मूल्य” श्रमशक्ति का मूल्य है और हर मज़दूर को अभी भी उसी के अनुसार भुगतान होता है, जबकि उपरोक्त उद्धरण में ठीक यह बताया जा रहा है कि अब मज़दूर श्रमशक्ति नहीं बेचता है, बल्कि वह जितना सामाजिक श्रम करता है, उसे बदले में उतना ही सामाजिक श्रम वस्तुओं के रूप में प्राप्त होता है। मालों का मूल्य सामाजिक श्रम से निर्धारित हो रहा है, न कि "श्रम का मूल्य" (जो वैसे भी निरर्थक अवधारणा है) या श्रमशक्ति का मूल्य, क्योंकि श्रमशक्ति अब माल रह ही नहीं गयी है। लेकिन अजय सिन्हा को यह बात समझ में ही नहीं आई है! देखें *दोन किहोते दि ला पटना* क्या कहते हैं:

“सामाजिक श्रम भंडार के एक अनुदत्त हिस्से अथवा अंश के रूप में किसी वैयक्तिक श्रम का इसकी बराबर मात्रा वाले दूसरे श्रम से विनिमय का अधिकार) के बिना लेन-लेन करने योग्य आर्थिक प्रगति और भौतिक साधनों की प्रचुरता जब तक कायम नहीं होता है, तब तक इसका अर्थ यही है कि हमें श्रम के मूल्य रूप में एक तरह के श्रम का दूसरे तरह

के श्रम से विनिमय करना होगा और तब जिसका अर्थ यह है कि माल का नियम यहां काम करेगा, यानी उपभोग के क्षेत्र में विनिमय को सही तरीके से लागू होने के लिए श्रमशक्ति माल नहीं होते हुए भी सामाजिक तौर पर उपलब्ध कुल मानव श्रम शक्ति की इसके मूल्य के रूप में गणना करनी होगी, क्योंकि श्रम की लागत या उसका मूल्य अंततोगत्वा श्रमशक्ति का ही मूल्य होता है।'' ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

पाठक स्वयं देख सकते हैं कि *माटसाब* अगड़म-बगड़म बकते हुए कई स्तरों पर मूर्खता जारी रखते हैं। दरअसल समाजवाद में श्रमशक्ति माल नहीं होती है इसको लेकर हमारे मास्टरजी अभी तक भयानक रूप से भ्रमित हैं, और इसलिए हर दो वाक्य के बाद घूम-फिरकर वह इस मूर्खतापूर्ण दलील पर आ ही जाते है। लेकिन अब इससे ज़्यादा उनको समझाया भी नहीं जा सकता है। साक्षात मार्क्स और लेनिन भी आकर *माटसाब* को यह समझाएं तो भी वह अपनी कूढ़मगज़ी नहीं छोड़ेंगे! साथ ही, "महासचिव" अजय सिन्हा द्वारा यहां मार्क्स को 'गोथा कार्यक्रम की आलोचना' से केवल अपने कुतर्क पर पर्दा डालने के लिए ही उद्धृत किया गया है।

मार्क्स और एंगेल्स ने यह भी स्पष्ट किया हैं कि जब उत्पादन के साधन सामाजिक हो जाते हैं तब मूल्य का नियम पूर्णत: सामाजिक श्रम के वितरण को निर्धारित नहीं कर सकता है। इस बिन्दु को ही एंगेल्स आगे और विस्तारपूर्वक समझाते हैं और कहते हैं कि समाजवाद में सर्वहारा राज्य द्वारा मूल्य के नियम को सचेतन तौर पर इस्तेमाल किया जाता है और इसे पूरी तरह मालों के वितरण के क्षेत्र तक ही सीमित रखा जाता है:

"The "exchange of labour for labour on the principle of equal valuation", in so far as it has any meaning, that is to say, the mutual exchangeability of products of equal social labour, hence the law of value, is the fundamental law of precisely commodity production, hence also of its highest form, capitalist production. It asserts itself in present-day society in the only way in which economic laws can assert themselves in a society of private producers: as a blindly operating law of nature inherent in things and relations, and independent of the will or actions of the producers. By elevating this law to the basic law of his economic commune and demanding that the commune should execute it in all consciousness, **Herr Dühring converts the basic law of existing society into the basic law of his imaginary society.** He wants existing society, but without its abuses. In this he occupies the same position as Proudhon. Like him, he wants to abolish the abuses which have arisen out of the development of commodity production into capitalist production, by giving effect against them to the basic law of commodity production, precisely the law to whose operation these abuses are due. Like him, he wants to abolish the real consequences of the law of value by means of fantastic ones.

"Our modern Don Quixote, seated on his noble Rosinante, the "universal principle of justice" {D. C. 282}, and followed by his valiant Sancho Panza, Abraham Enss, sets out proudly on his knight errantry to win Mambrin's helmet, the "value of labour"; but we fear, fear greatly, he will bring home nothing but the old familiar barber's basin." (Engels, **Anti Duhring,** *emphasis ours*)

लगता है इतिहास में सभी मूर्खों को दोन किहोते की उपाधि से कभी न कभी ज़रूर नवाज़ा गया है! एंगेल्स स्पष्ट करते हैं कि समाजवाद में समान मूल्य के नियम के अनुसार श्रम का श्रम से विनिमय की कल्पना करना ऐसे "समाजवाद' की कल्पना करना है जो असल में पूंजीवाद ही है लेकिन जिसमें बुराइयां मौजूद नहीं है! जैसा कि हमने पहले भी बताया था कि समाजवादी संक्रमण के दौरान श्रमशक्ति के मूल्य या *माटसाब* के नए शब्दों में "श्रम के मूल्य" का प्रश्न ही नहीं उठता और न ही उसके आकलन का प्रश्न उठता है क्योंकि मूल्य के आकलन की आवश्यकता ही केवल और केवल विनिमय के लिए होती है। लेकिन समाजवादी समाज में श्रमशक्ति का विनिमय होता ही नहीं है।

समाजवादी संक्रमण में किसी भी माल के मूल्य का आकलन सामाजिक श्रम के परिमाण के आकलन से होता है, उसमें श्रमशक्ति के मूल्य के आकलन का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता।

लेकिन अन्य मालों के मूल्य पर मूल्य का नियम लागू होता है और उसके अनुसार ही उनका मूल्य निर्धारित होता है: यानी उसमें लगने वाले सामाजिक श्रम के अनुसार। यानी मूल्य का नियम मालों पर लगता है लेकिन उत्पादन और वितरण को यह पूर्णत: निर्धारित नहीं करता है क्योंकि उत्पादन और वितरण दोनों के ही क्षेत्र केन्द्रीय तौर पर सर्वहारा राज्य द्वारा नियोजित होते हैं। मज़ेदार बात यह है कि एंगेल्स भी अपने समय में डयुहरिंग को वही उपाधि देते हैं जो कि हमने *दोन किहोते दि ला पटना* को दी है! एंगेल्स बताते हैं के "श्रम के मूल्य" रूपी मैम्ब्रिन के ताज को जीतने की चाहत में दोन किहोते यानी डयुहरिंग को नाई का कटोरा (barber's basin) ही मिलता है। आज भी हमारे पटना के दोन किहोते को नाई का कटोरा या फिर काँटों का ताज ही मिला है! अगर *माटसाब* को हमारे द्वारा उन्हें भारत के वामपन्थी आन्दोलन के दोन किहोते कहे जाने पर आपत्ति है तो उन्हें यह नाराज़गी एंगेल्स पर निकालनी चाहिए, हम पर नहीं!

आगे देखें स्तालिन इस विषय में क्या लिखते हैं:

"For us, distribution is carried out according to labor. We have qualified and unqualified labor. What is the labor of an engineer? It is augmented simple labor. Here, income is distributed according to labor. It is impossible to distribute without the law of value. We think that all of the economy is conducted by plan, but it doesn't always work that way. We also have a lot of spontaneous action. We are conscious and don't calculate the spontaneity by the law of value as a matter of procedure. There, the law of value exists spontaneously, it brings destruction, and requires an enormous number of victims. ***For us the character of the law of value changes, takes on new content, and new form. We determine prices consciously, not spontaneously."*** (Stalin, **Economic Problems of USSR**)(*ज़ोर हमारा*)

आगे *माटसाब* फिर अपने दिमाग़ में फंसे खर्रों की वजह से दुहाई देते हैं:

"लेकिन सामाजिक श्रम अंततोगत्वा खर्च हुई मानव श्रमशक्ति ही है या मानव श्रमशक्ति के ही खर्च होने का परिणाम है। इसलिए ही तो समाजवाद के अंतर्गत मुख्य आर्थिक नियम उत्पादकों की अधिकतम जरूरतों की पूर्ति होता है और इसका अर्थ यही है कि मानव श्रमशक्ति की लागत यानी उसका मूल्य लगातार बढ़ता जाता है। अर्थात, पूरे समाज की श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन पर ज्यादा से ज्यादा खर्च किया जाता है जबकि पूंजीवाद में श्रमशक्ति का मूल्य भौतिक रूप से न्यूनतम की तरफ या उससे भी नीचे की ओर शिफ्ट करता रहता है।'' ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

अब मास्टरजी की महामूर्खता पर भी गौर कीजिए: वह क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्रियों की ग़लत अवधारणा के ज़रिये अपनी बात सिद्ध करना चाहते हैं कि श्रमशक्ति का मूल्य ही श्रमिकों के बीच विनिमय होता है! पूंजीवाद में श्रमशक्ति का मूल्य परिभाषा से ही उसके पुनरुत्पादन में लगने वाले मालों के मूल्य से तय होता है। लेकिन मार्क्स ही नहीं बल्कि एडम स्मिथ भी जानते थे कि एक मज़दूर अपनी श्रमशक्ति के मूल्य से ज़्यादा मूल्य पैदा करता है। समाजवाद में श्रमशक्ति भौतिक तौर पर, यानी कि एक उपयोग-मूल्य के तौर पर ख़र्च होती है और उसकी भरपाई की आवश्यकता हर खर्च होने वाली चीज़ की भरपाई के समान होती है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं होता है कि उसका मूल्य और विनिमय मूल्य होता है। यहां फिर से *माटसाब* श्रमशक्ति के विषय में उपयोग मूल्य और मूल्य के बीच में भ्रमित हो गये हैं। कोई उपयोगी वस्तु माल न भी हो तो भी उसके भौतिक रूप से व्यय होने पर उसकी

भरपाई करनी होती है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका कोई मूल्य होता है। मूल्य एक सामाजिक सम्बन्ध है, और उसकी वस्तुवादी अवधारणा (physicalist concept) का मार्क्स ने लगातार खण्डन किया था। समाजवादी समाज में मज़दूर जितना सामाजिक श्रम देता है, मालों के रूप में उतना ही सामाजिक श्रम प्राप्त करता है। ठीक इसी वजह से उसका जीवन-स्तर ऊंचा होता जाता है, न कि इस वजह से समाजवाद में श्रमशक्ति का मूल्य बढ़ता जाता है और पूंजीवाद में श्रमशक्ति का मूल्य घटता जाता है, जैसा कि पटना के दोन किहोते अजय सिन्हा को लगता है!

दूसरा, *माटसाब* के अनुसार समाजवाद में श्रमशक्ति का मूल्य इसलिए बढ़ता जाता है क्योंकि "समाज की श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन" पर ज़्यादा खर्च किया जाता है! कैसी मूर्खतापूर्ण बात है यह? *माटसाब* के लिए मूल्य तय करने का पैमाना अब 'सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल' न रहकर "श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन पर खर्च" बन जाता है। पर पुनरुत्पादन पर खर्च का मूल्य कौन तय कर रहा है? यह तो पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक मालों में लगने वाले मूल्य से तय होना था लेकिन अब *माटसाब* के हिसाब से मूल्य खुद इस पैमाने से तय हो रहा है! आप देख सकते हैं कि *माटसाब* एक शून्य की परिधि के चारों ओर घूम रहे हैं और 'झींगा ला ला -झींगा ला ला' गा रहे हैं! एक कुतर्क और ग़लती को ढांपने के चक्कर में यह व्यक्ति बौद्धिक तौर पर बिलकुल निपट नंगा सड़क पर भाग चला है!

माटसाब ने सामाजिक श्रम के अनुसार मज़दूरों के बीच वितरण के प्रश्न को भी तोड़-मरोड़ कर इसलिए पेश किया है ताकि अपनी समाजवाद में "श्रम का मूल्य" और "श्रम का मूल्य = श्रम शक्ति का मूल्य" की मौजूदगी की मूर्खतापूर्ण अवधारणा को सिद्ध कर सकें। लेकिन उपरोक्त चर्चा से साफ़ है कि उन्हें पहले एक विनम्र बालक की तरह मार्क्सवाद का 'क ख ग' पढ़ना चाहिए, *माटसाब* वाली "सैद्धान्तिक" हवाबाज़ी छोड़ देनी चाहिए और समाजवादी संक्रमण में सामाजिक श्रम के अनुसार वितरण सरीखे जटिल सवालों को हाथ नहीं लगाना चाहिए।

आलोचना में हुई फ़ज़ीहत ने *माटसाब* को एक पुरातात्विक क्लर्क में बदल दिया!

आगे *दोन किहोते दि ला पट*ना हमारे 8 साल पुराने एक उद्धरण को पेश कर ख़ुद को थोड़ी गुदगुदी महसूस होने देते हैं जिसमें हमने लिखा है कि समाजवाद में उजरती श्रम मौजूद होता है। वे तर्जनी उठाकर बताते हैं कि स्तालिन के अनुसार समाजवाद में उजरती श्रम मौजूद नहीं था। वह हमारे निम्न उद्धरण को पेश करते हैं:

"जैसा कि माओ ने बताया था, समाजवादी समाज में अभी तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताएं यानी मानसिक और शारीरिक श्रम, उद्योग और कृषि और गांव और शहर में अन्तर मौजूद होता है। जब तक यह अन्तर मौजूद होता है तब तक पूंजीवादी श्रम विभाजन भी मौजूद होता है; कुशल और अकुशल के बीच का अन्तर मौजूद होता है; बुर्जुआ अधिकार भी तब तक मौजूद रहते हैं। जाहिर है कि जब तक श्रम विभाजन मौजूद रहेगा तब तक विनिमय सम्बन्ध और विनिमय मूल्य बने रहेंगे। माल का अस्तित्व बना रहेगा क्योंकि अभी भी वस्तुओं का उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य दोनों बने रहेंगे। लिहाज़ा, अभी भी माल उत्पादन बना रहेगा और उजरती श्रम का अस्तित्व भी बरक़रार रहेगा क्योंकि लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त नहीं करेंगे बल्कि अपने श्रम के उत्पाद का मोल हासिल करेंगे। जब तक विनिमय सम्बन्ध बने रहेंगे तब तक श्रम के उत्पाद के हस्तगतीकरण का तत्व मौजूद रहेगा। और हम मार्क्स से इस बात को जानते हैं कि अलगाव की आर्थिक परिघटना का मूल और कुछ नहीं बल्कि श्रम के

उत्पाद का हस्तगतीकरण है। यह पूरी स्थिति, जैसा कि हमने पहले बताया है, समूचे समाजवादी संक्रमण काल में मौजूद रहती है।" (दिशा संधान, अंक-1, अप्रैल-जून 2013)

माटसाब को इस उद्धरण को पढ़कर लगा कि हमने कोई ग़ज़ब की ग़लत बात बोल दी है और वह वेद प्रकाश शर्मा सरीखे सड़क-छाप सस्पेंस नॉवल के अंदाज़ में सुराग़ के तौर पर पहले हमारे उद्धरण को बिना संदर्भ के पाठकों के समक्ष रखते हैं और कहते हैं कि पाठक इसे पढ़ें। उद्धरण में स्पष्ट है कि पूंजीवादी उजरती श्रम की चर्चा ही नहीं हो रही है, क्योंकि उसका अर्थ ही होता है पूंजी द्वारा उजरती श्रम का शोषण। यहां समाजवाद के अंतर्गत उजरत (मज़दूरी) की वव्यवस्था की बात हो रही है, क्योंकि समाजवाद के अंतर्गत भी उजरत की व्यवस्था होती है, लेकिन उसका आधार अब श्रमशक्ति का मूल्य नहीं होता है, बल्कि मज़दूर द्वारा दी जा रही सामाजिक श्रम की मात्रा होती है। इस रूप में उजरत की व्यवस्था एक बदले स्वरुप में मौजूद होती है, उसका सारतत्व बदल चुका होता है। लेकिन *माटसाब* को यह बात ही समझ में नहीं आई है! *माटसाब* कहते हैं कि वह उद्धरण के लेखक का नाम और अपने द्वारा उद्धरण रखने की मंशा बाद में स्पष्ट करेंगे। रहस्य से पर्दा उठाने के बाद वह अपनी छाती पीटते हुए गरजते हैं कि:

"इसमें यह व्यक्ति इस बात को बड़े गर्व से मानता है और इसकी घोषणा करता है कि समाजवाद के पूरे दौर में श्रम, उजरत श्रम बना रहेगा यानी दूसरे शब्दों में श्रमशक्ति माल बनी रहेगी। सवाल यह है कि यह आदमी फिर किस मुंह से यहां चिल्ला रहा है कि समाजवाद में उजरत श्रम का अंत हो जाता है, माल के रूप में श्रमशक्ति का अंत हो जाता है आदि आदि।" ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

लेकिन यहां भी यह बौद्धिक बौना बेईमानी और चोरी करने से बाज़ नहीं आता है। स्तालिन का पूरा उद्धरण पढ़कर कोई भी सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति समझ सकता है कि स्तालिन का अर्थ यहाँ पूंजीवादी उजरती व्यवस्था से है। लेकिन अहं पर ठेस खाए हुए "महासचिव" अजय सिन्हा को पुरातात्विक संधान करने में वक़्त ख़र्च करने में जितना मज़ा आता है, काश कि उसका एक-तिहाई वह मार्क्सवाद का अन्तर्विवेकशील अध्ययन करने और जारी बहस में पूछे गए सवालों का तर्कपूर्ण और तथ्य आधारित जवाब देने में ख़र्च कर देते तो उनकी बहस में इतनी भद्द नहीं पिटती! बहरहाल स्तालिन का पूरा उद्धरण देखें:

"Capitalist production is the highest form of commodity production. Commodity production leads to capitalism only *if* there is private owner-ship of the means of production, *if* labour power appears in the market as a commodity which can be bought by the capitalist and exploited in the process of production, and *if,* consequently, the system of exploitation of wageworkers by capitalists exists in the country. Capitalist production begins when the means of production are concentrated in private hands, and when the workers are bereft of means of production and are compelled to sell their labour power as a commodity. Without this there is no such thing as capitalist production.

"Well, and what is to be done if the conditions for the conversion of commodity production into capitalist production do not exist, if the means of production are no longer private but socialist property, if the system of wage labour no longer exists and labour power is no longer a commodity, and if the system of exploitation has long been abolished - can it be considered then that commodity production will lead to capitalism all the same? No, it cannot. Yet ours is precisely such a society, a society where private ownership of the means of production, the system of wage labour, and the system of exploitation have long ceased to exist." (Stalin, Economic Problems of USSR)

समाजवाद में पूंजीवादी उजरती श्रम या उजरती गुलामी समाप्त हो जाती है, इसके बारे में किसी को क्या सन्देह हो सकता है? क्या समाजवाद में उजरती व्यवस्था मौजूद नहीं होती है? बिलकुल मौजूद रहती है, लेकिन समाजवादी संक्रमण में उजरत का पूंजीवादी रूप और अन्तर्वस्तु बदल चुका रहता है क्योंकि अब श्रमशक्ति माल के रूप में अस्तित्वमान नहीं रहती है। इसलिए समाजवाद में मज़दूरी या उजरत का श्रम शक्ति के मूल्य से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं होता है लेकिन मज़दूरी फिर भी विद्यमान होती है। इसे समझना इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अभी लोग अपनी क्षमता अनुसार काम और अपनी आवश्यकता अनुसार प्राप्त नहीं करते हैं। सामाजिक श्रम की मात्रा के अनुसार उजरत का तय होना भी एक असमानता को जन्म देता है, क्योंकि समाज में मानसिक व शारीरिक श्रम का अन्तर व अन्य अन्तरवैयक्तिक असमानताएं मौजूद होती हैं। मार्क्स का यह निम्न उद्धरण देखें जो यह स्पष्ट करता है कि समाजवाद में भी उजरत मौजूद होती है लेकिन उसका पूंजीवादी रूप नहीं केवल एक खोल बचता है। मार्क्स कहते हैं:

“Of course, if wages are reduced to their general basis, namely, to that portion of the product of the producer’s own labour which passes over into the individual consumption of the labourer; if we relieve this portion of its capitalist limitations and extend it to that volume of consumption which is permitted, on the one hand, by the existing productivity of society (that is, the social productivity of his own individual labour as actually social), and which, on the other hand, the full development of the individuality requires; if, furthermore, we reduce the surplus-labour and surplus-product to that measure which is required under prevailing conditions of production of society, on the one side to create an insurance and reserve fund, and on the other to constantly expand reproduction to the extent dictated by social needs; finally, if we include in No. 1 the necessary labour, and in No. 2 the surplus-labour, the quantity of labour which must always be performed by the able-bodied in behalf of the immature or incapacitated members of society, i.e., **if we strip both wages and surplus-value, both necessary and surplus labour, of their specifically capitalist character, then certainly there remain not these forms, but merely their rudiments, which are common to all social modes of production.”** (Marx, Capital Volume 3)

ताज्जुब की बात यह है कि इस उद्धरण के एक हिस्से को *माटसाब* ने भी उद्धृत किया था। लेकिन इसके बावजूद वह यह समझ नहीं पाते हैं कि समाजवाद में उजरती व्यवस्था पूंजीवादी उजरती श्रम की व्यवस्था के रूप से अलग होती है।

हमारे उपरोक्त उद्धरण में हम उजरती श्रम की मौजूदगी की बात ठीक इन्ही सन्दर्भों में कर रहे हैं और आगे यह स्पष्ट भी कर रहे हैं कि समाजवाद में अभी "सभी से उनकी क्षमता के अनुसार और सभी को उनकी आवश्यकता के अनुसार" का सिद्धान्त नहीं लागू होता है। बेहतर होता की उजरती श्रम की जगह उजरती व्यवस्था का इस्तेमाल किया जाता क्योंकि इससे बात अधिक सन्तुलित होती और कोई भ्रम पैदा होना की गुंजाइश नहीं रह जाती। हालांकि अगर कोई पूर्वाग्रह-रहित मस्तिष्क का व्यक्ति हमारा वह पूरा वाक्य पढ़ेगा तो समझ जायेगा की वहाँ अर्थ उजरती व्यवस्था से है क्योंकि ठीक उसके बाद यह लिखा गया है कि “लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त नहीं करेंगे बल्कि अपने श्रम के उत्पाद का मोल हासिल करेंगे” जिसकी वजह से समाजवादी संक्रमण के दौर में भी असमानता की ज़मीन मौजूद रहेगी। यह बात ही समाजवादी संक्रमण की समस्याओं के सन्दर्भ में कही गयी है जो ज़ाहिरा तौर पर *दोन किहोते दी ला पटना* के चुनौटी भर दिमाग़ की बौद्धिक क्षमता से परे है। इस उद्धरण में हम समाजवादी अर्थव्यवस्था और उसकी गतिकी या नियमों पर चर्चा नहीं कर रहे हैं।

लेकिन *माटसाब* को तो लगा कि उनके हाथ कुबेर का खज़ाना लग गया है और वह लगे 'यूरेका-यूरेका' चिल्लाने! असल में माटसाब ने एक जासूस का चोगा इसलिए धारण कर लिया है क्योंकि जारी बहस में अपने विरोधी पक्ष द्वारा पेश किये गए तर्कों का वर्तमान में जवाब देने की उनमें हिम्मत नहीं है, इसलिए कभी 10 तो कभी 7 साल

पुराना हमारा कोई लेख ढूंढकर ले आते है कि उसके बूते ही अपनी ग़लत और मूर्खतापूर्ण अवस्थितियों को साबित करने का प्रयास करते हैं! चूंकि मास्टरजी के अनुसार समाजवादी व्यवस्था में श्रमशक्ति एक माल थी, तो अब उन्हें इसे साबित करने के लिए तमाम किस्म के तीन-तिकड़म भिडाने पड़े हैं जिनमें से यह पुरातात्विक संधान भी उनका एक तिकड़म ही है। हम यहाँ पहले ही बता देना ज़रूरी समझते हैं कि 'दिशा सन्धान' के कुछ अंकों में कॉपी सम्पादन की कमी की वजह से कुछ ग़लतियाँ भी चली गयी थीं, जिन्हें तत्काल ही वेबसाइट में एडिट कर दिया गया था और बची हुई हार्ड प्रतियों में भी, मसलन तीसरे अंक में एक जगह ग़लती से समाजवाद में श्रमशक्ति माल होती है छप गया था जिसे तत्काल ही *इरादा* (भूल-सुधार) के साथ वेबसाइट पर ठीक कर दिया गया था और प्रिंट संस्करण की बची हुई प्रतियों में भी *इरादा* लगा कर दुरुस्त कर दिया गया था। और भी आंकड़ों सम्बन्धी कुछ प्रूफ की ग़लतियाँ प्रिंट संस्करण में गयी थीं जिन्हें वेबसाइट पर तत्काल ही ठीक कर दिया गया था। ये भूल सुधार वेबसाइट पर तिथि के साथ मौजूद हैं।

यह बताने की वैसे कोई आवश्यकता नहीं थी लेकिन पटना के दोन किहोते और "यथार्थवादी" बौड़म मण्डली के साथ अब तक चली बहस में हमें पता चल चुका है कि जारी बहस में पिटाई के बाद निरुत्तर होने पर यह मूर्ख मण्डली पुरातात्विक खोजों में जुट जाती है। ताज्जुब की बात नहीं कि दो महीने बाद यह एक बार फिर "बौद्धिक" निर्वस्त्रता की अवस्था में अपनी गुफाओं से बाहर निकल कर यूरेका-यूरेका चिल्लाते हुए आयें! इसलिए इतनी ज़हमत मत उठाइएगा महोदय। हम आपको खुद ही बता रहे हैं कि कॉपी संपादन की कुछ ग़लतियों के कारण प्रूफ की त्रुटियां इन अंकों के प्रिंट संसकरण में गयी हैं। कुछ ग़लतियों को हमने प्रिंट संस्करण में *इरादा* (भूल-सुधार) लगाकर ठीक करने का प्रयास किया, लेकिन जल्द ही हमारे समझ में आ गया कि यह बेहद लम्बा और श्रमसाध्य काम है, जिसे हम दी गयी कार्यशक्ति में कर नहीं सकेंगे। इसलिए हमने वेबसाइट संस्करण में ये प्रूफ व संपादन की ग़लतियां अंक के मुद्रण के तत्काल बाद ही ठीक कर दी थीं और आज भी जब कोई उन अंकों की प्रिंट प्रति ले जाता है, तो हम उसे ताईद कर देते हैं कि भूल सुधार हेतु 'दिशा सन्धान' की वेबसाइट अवश्य देखें।

बताते चलें कि जिस वक़्त *माटसाब* अजय सिन्हा ने सोवियत समाजवादी प्रयोग पर हमारी अवस्थिति की "आलोचना" लिखने की "धमकी" दी थी हमने तभी इनके संगठन को सूचित कर दिया था कि वे वेब संस्करण का ही उपयोग करें, क्योंकि प्रिंट संसकरण में प्रूफ की गम्भीर ग़लतियां गईं थीं।

लेकिन मूल बात तो यह है कि एक जारी बहस में 8 या 10 साल पहले के लेखन पर चर्चा ही व्यर्थ है। जारी बहस हर पक्ष की उसमें पेश दलीलों और तर्कों के आधार पर होती है। चूंकि "महासचिव" अजय सिन्हा जारी बहस में चूहे की तरह इस बिल से उस बिल में भागते नज़र आ रहे हैं, इसलिए इस बेचारे को पुरातात्विक उत्खनन पर उतरना पड़ गया है! वास्तव में इस तरह के पुरातात्विक अनुसन्धान बहस से पलायन का ही एक तरीक़ा है जिसमें मौजूदा सवालों पर या तो आपकी बोलती बंद जो जाती है या फिर बहस के दौरान अपनी ही कही गयी बातों से पलटी मार ली जाती है।

इस तरह का पुरातात्विक अनुसन्धान तो हम भी "महासचिव" अजय सिन्हा और "यथार्थवादी" मण्डली के सरगना और सोशल मीडिया के "वामपंथी" पत्रकार महोदय के लेखन का कर सकते थे लेकिन यह आचरण बहस में किसी भी संजीदा व्यक्ति को शोभा नहीं देता है क्योंकि किसी भी मौजूदा बहस में दोनों पक्षों द्वारा बहस के दौरान पेश किये गए तर्कों और तथ्यों पर बात होती है और उन्ही पर बात होनी भी चाहिए। किसी भी जारी बहस में उसमें पेश तर्कों व तथ्यों पर बात होती है, न कि कोई पक्ष दूसरे पक्ष के 8 या 10 साल पुराने लेखन पर बहस करता है! यह काम

कोई पक्ष तभी करता है, जब वह जारी बहस में पिट जाता है! लेकिन इतनी सी बात भी *माटसाब* को समझाना दीवार पर सिर देने के समान है।

समाजवादी संक्रमण के दौर में उजरती व्यव्यस्था व तद्जनित समस्याएं

बहरहाल मूल चर्चा पर वापस आते हैं। अगर पटना के दोन किहोते महाशय को लगता है कि समाजवादी समाज में उजरती व्यवस्था का मतलब श्रम शक्ति का माल होना होता है, तो एक बार फिर हमारी सलाह है कि उन्हें किसी की मदद से पेंसिल टिका-टिकाकर मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी सिद्धान्तों का अध्ययन करना चाहिए। देखें, सोवियत संघ से प्रकाशित राजनीतिक अर्थशास्त्र की पाठ्यपुस्तक क्या कहती है:

"**Wages in socialist economy are by their very nature quite different from wages under capitalism. Since labour-power has ceased to be a commodity in socialist society, wages are no longer the price of labour-power.** They express, not the relation between the exploiter and the exploited, but the relation between society as a whole, in the shape of the Socialist State, and the individual worker who is working for himself and for his society.**"**

चूंकि समाजवाद के अंतर्गत श्रमशक्ति माल के रूप में मौजूद नहीं रहती है, इसलिए मज़दूरी अब श्रमशक्ति का दाम या कीमत भी नहीं रह जाती है। मज़दूरी के आकलन के लिए केवल मज़दूर द्वारा दिये जाने वाले सामाजिक श्रम की मात्रा की भूमिका रह जाती है। श्रमशक्ति के मूल्य की श्रेणी श्रमशक्ति के एक माल के रूप में समाप्त होने के साथ ही समाप्त हो जाती है, हालांकि श्रमशक्ति भौतिक तौर पर समाप्त नहीं हो जाती है और न ही भौतिक तौर पर खर्च होने वाली श्रमशक्ति को 'कम्पन्सेट' करने की आवश्यकता समाप्त होती है। यानी एक उपयोग-मूल्य के तौर पर श्रमशक्ति मौजूद होती है, लेकिन एक माल के रूप में नहीं, और न ही उसके मूल्य की कोई बात की जा सकती है, जैसे कि कम्युनिस्ट समाज की मंज़िल में कोई भी वस्तु माल के रूप में मौजूद नहीं होगी और इसलिए उसके मूल्य की बात भी बेतुकी होगी, लेकिन वह उपयोग-मूल्य के तौर पर मौजूद होगी और उसके उत्पादन व पुनरुत्पादन, यानी स्तालिन के शब्दों में उसे 'कम्पन्सेट' करने की आवश्यकता भी ज़ाहिरा तौर पर होगी। समाजवादी समाज में श्रमशक्ति माल नहीं रह जाती है, न ही उसके मूल्य की बात की जा सकती है और *माटसाब* के समान "श्रम के मूल्य" की बात करना तो मूर्खता की हद ही हो जाएगी। इसलिए समाजवादी समाज में भी उजरत मौजूद रहती है। इसी पाठ्यपुस्तक से यह निम्न उद्धरण भी देखें:

"Since under capitalism wages are the price of labour-power, they usually fluctuate, unlike the price of other commodities, below value. They do not always enable the workers to satisfy even the minimum of their requirements. **With the abolition of the system of hired labour, the law of value of labour-power has completely lost its validity as the regulator of wages.** The basic economic law of socialism necessitates the maximum satisfaction of the constantly growing material and cultural requirements of the whole of society. **The emancipation of wages from the limitations of capitalism enables them to be extended "to that volume of consumption, which is permitted on the one hand, by the existing productivity of society . . . and on the other hand, required by the full development of his (the worker's) individuality"**. (Marx, Capital, Vol. III, Kerr edition, p. 1,021) (*emphasis ours*)

यह पाठ्यपुस्तक यह भी बताती है कि समाजवाद के अंतर्गत मज़दूरी या उजरत किस प्रकार निर्धारित होती है :

“Wages are one of the most important economic instruments through which each worker in socialist society is given a personal material interest in the results of his work: he who works more and better also receives more. Consequently, wages are a powerful factor in the growth of labour productivity, enabling the personal material interests of the worker to be correctly combined with State (national) interests.

“The money form of wages is necessitated by the existence in socialist economy of commodity production and the law of value. As has already been stated, the consumer goods, which are necessary to compensate for the expenditure of labour-power are produced and disposed of in socialist economy as commodities, subject to the operation of the law of value. The money form of wages allows of flexible and differential assessment of the worker’s share in the social product, depending on the results of his labour.

“Thus, wages in socialist economy are the monetary expression of the worker’s share in that portion of the social product which is paid out by the State to workers by hand or brain in accordance with the quantity and quality of each worker’s labour.

“The money wages of each worker by hand or brain are his individual wages. The source of the individual wages of the workers engaged in socialist production is the product created for themselves, and distributed according to work. However, the standard of life of the workers by hand or brain in socialist society is not determined by individual money wages alone. In addition to individual wages, large funds are allotted by the State and social organisations for the social and cultural needs of the working people, out of the product created by labour for society.

“In conformity with the requirements of the basic economic law of socialism and the law of distribution according to work, the Socialist State plans the wage fund and the wage level for different categories of workers for each period of development.”

लेकिन चूंकि समाजवाद में लोग अभी भी अपने श्रम के अनुसार मज़दूरी पाएंगे, इसलिए अभी "क्षमता के अनुसार श्रम व आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करना" का सिद्धान्त लागू नहीं होता। इसलिए उजरतों में फर्क रहता हैं और यह वस्तुगत तौर पर असमानताओं को जन्म भी देता है। जब तक अन्तरवैयक्तिक असमानताएं, जैसे कि शारीरिक व मानसिक श्रम में विभेद मौजूद रहेगा, तब तक ऐसा ही हो सकता है। माओ के तमाम योगदानों में एक अहम योगदान यह स्पष्ट करना था कि ये अन्तरवैयक्तिक असमानताएं महज़ उत्पादक शक्तियों के विकास के ज़रिये नहीं समाप्त हो सकती हैं, बल्कि समाजवादी संक्रमण के दौरान कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्त्व में मज़दूर वर्ग को उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का कार्य सचेतन तौर पर जारी रखना होगा, बुर्जुआ अधिकारों के विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष चलाना होगा, साथ ही उत्पादन का विकास भी जारी रखना होगा। लेकिन उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का प्रश्न क्रान्ति के बाद के समाजवादी संक्रमण के दौरान कई कालखण्डों में प्रधानता प्राप्त कर लेता है।

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का एक नारा इसी द्वन्द्व को अभिव्यक्त करता है: "क्रान्ति पर पकड़ बनाए रखो और उत्पादन का विकास करो" (grasp revolution, promote production)। यह वह बिन्दु था, जिस पर लेनिन के बाद के दौर में, सोवियत पार्टी की समझ सन्तुलित नहीं थी और एक प्रकार के उत्पादकतावाद (productivism) का उस पर स्पष्ट प्रभाव था। सोवियत राजनीतिक अर्थशास्त्र की पाठ्यपुस्तक से लिए गए उपरोक्त उद्धरण में भी उसकी एक झलक दिखलाई पड़ती है। लेकिन यहां हम इस चर्चा के विस्तार में नहीं जा सकते हैं। मूल बात यह है कि समाजवादी संक्रमण में उजरत की व्यवस्था पूंजीवादी उजरत की व्यवस्था से अलग होती है क्योंकि श्रमशक्ति माल नहीं रह जाती है, लेकिन उजरत की व्यवस्था अभी मौजूद होती है। अब उजरत सामाजिक श्रम की मात्रा से तय होती है, जो कि हर मज़दूर समाज को देता है। निश्चित तौर पर, अभी यह एक बुर्जुआ अधिकार ही होता है और

कम्युनिस्ट सिद्धान्त (सभी से उनकी क्षमता के अनुसार, सभी को उनकी आवश्यकता के अनुसार) अभी ऊपर से थोपकर लागू नहीं किया जा सकता है, क्योंकि समाज में अन्तरवैयक्तिक असमानताएं मौजूद होती हैं, विशेषकर शारीरिक व मानसिक श्रम का अन्तर। समाजवादी संक्रमण के दौर में तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताएं यानी मानसिक और शारीरिक श्रम, उद्योग और कृषि और गांव और शहर में अन्तर मौजूद होता है और जब तक यह अन्तर मौजूद होता है तब तक श्रम विभाजन भी मौजूद होता है, कुशल और अकुशल के बीच का अन्तर मौजूद होता है जो कि उजरतों में अन्तर पैदा करता है।

"महासचिव" अजय सिन्हा की हमारे जिस उद्धरण को देखकर विक्षिप्त क़िस्म की चीत्कार निकली थी वह समजवादी संक्रमण की इसी समस्या को रेखांकित कर रहा था। माओ ने भी "सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना" में इस बात को रेखांकित किया है क्योंकि सोवियत समाजवादी आर्थिक नियोजन में उत्पादककता को बढ़ाने और इसलिए भौतिक प्रोत्साहन देने पर अधिक ज़ोर होने की वजह से उजरतों में असमानता बढ़ रही थी। माओ ने इसी को राजनीति की जगह उत्पादकता को कमान में रखना कहा। देखें माओ क्या लिखते हैं:

"Chapter 26 says, "Workers in socialist enterprises who, out of material interest, are concerned with the results of their own work are the motive forces developing socialist production." (p. 482)

"Chapter 27 says, "Compensation for skilled labor is comparatively high....And this stimulates workers to raise their cultural and technical level, causing the essential difference between manual and mental labor to diminish." (pp. 501-03)

"The point here is that higher compensation for skilled labor has spurred unskilled workers to upgrade themselves continuously so they can enter the ranks of skilled workers. This means that they studied culture and technology in order to earn more money. In a socialist society every person entering school to study culture and technology should recognize before anything else that they are studying for socialist construction, for industrialization, to serve the people, for the collective interest, and not above all for a higher wage.

"Chapter 28 says, "Distribution according to labor is the greatest force propelling the development of production." (p. 526) And at the end of this page, after explaining that wages rise steadily under socialism, the unrevised third edition of this textbook even goes so far as to say, "Socialism is fundamentally superior to capitalism precisely in this." Now to say that socialism is fundamentally superior to capitalism because wages steadily rise is very wrong." (Mao Tsetung, **A Critique of Soviet Economics**)

सोवियत रूस में लागू *पीस रेट* पर उजरतों की व्यवस्था के बारे में आशंका व्यक्त करते हुए माओ बताते हैं कि इस व्यवस्था पर एकतरफा ज़ोर होने के कारण कालान्तर में सोवियत यूनियन में जवान और बूढ़े मज़दूरों, ताक़तवर और कमज़ोर मज़दूरों और अधिक कुशल और कम कुशल मज़दूरों के बीच अन्तरविरोध और असमानता बढ़ेगी। इसके साथ ही मज़दूरों में "बड़ा बनने" की मानसिकता भी पनपेगी जो सामूहिक हितों की जगह वैयक्तिक हितों को तरजीह देगी:

"Page 530, in its discussion of wage forms, advocates taking piecework wages as primary and the time-rate as supplementary. We do the reverse. *One-sided emphasis* on piece rates is bound to create contradictions between older and younger, stronger and weaker laborers, and will foster among the workers a psychology of "going for the big ones." This makes the primary concern not the collective cause but the individual income. There is even evidence that the piece-rate wage system impedes technological innovation and mechanization.

“The book concedes that with automation, piece-rate wages are unsuitable. On the one hand they say they want automation widely developed; on the other they say they want piece-rate wages used widely. This involves a contradiction.”(*ibid*)

सोवियत यूनियन में समाजवादी निर्माण के दौर में भौतिक प्रोत्साहान को उत्पादकता बढ़ाने का प्रमुख ज़रिया बताने की सोच पर भी माओ अपनी आलोचना रखते हैं:

“The book says that material incentive to labor "spurs increases in production" and "is one of the decisive factors in stimulating the development of production." But material incentive does not necessarily change every year. People may not require such incentive daily, monthly, or yearly. In times of difficulty when incentives are reduced people must still carry on, and that satisfactorily. By making material incentive a one-sided absolute the text fails to give due importance to raising consciousness, and cannot explain why there are differences among the labor of people in the same pay scale. For example, in scale no. 5, one group may carry on very well, another rather poorly, and a third tolerably well on the whole. Why, with similar material incentive, such differences occur is inexplicable according to their way of reasoning.

“Even if the importance of material incentive is recognized, it is never the sole principle. There is always another principle, namely, spiritual inspiration from political ideology.

“And, while we are on the subject, material incentive can not simply be discussed as individual interest. There is also the collective interest to which individual interest should be subordinated, long-term interests to which temporary interests should be subordinated, and the interests of the whole to which partial interests should be subordinated.” (*ibid*)

कहने की ज़रूरत नहीं है कि पाठक spiritual शब्द का अर्थ आध्यात्मिक रूप में न समझें। यहां माओ राजनीतिक और विचारधारात्मक प्रेरण (political and ideological inspiration) और चेतना के स्तरोन्नयन की भूमिका की बात कर रहे हैं।

इस पूरी चर्चा के बाद हम देख सकते हैं कि *दोन किहोते दि ला पटना* समाजवादी व्यवस्था के अंतर्गत उजरती व्यवस्था की मौजूदगी का मूर्खतापूर्ण तरीक़े से यह मतलब निकालते हैं कि श्रमशक्ति माल के रूप में अभी भी विद्यमान हैं! *माटसाब* के हर नये लेख के साथ हमारी यह धारणा और पुख्ता होती जा रही है कि मार्क्सवाद और राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी सिद्धान्त इन्हें वाक़ई नहीं पता हैं और ऊपर से दोन किहोते महोदय एक “अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी” के “महासचिव” भी हैं। क्या मज़ाक़ है यह! हमने पिछले लेखों में *माटसाब* की समाजवाद में श्रमशक्ति के माल होने की बात की विस्तृत आलोचना पेश की थी। पाठक इन मुद्दों पर हमारी अवस्थिति विस्तार से जानने के लिए निम्न दो लेख पढ़ सकते हैं:

http://ahwanmag.com/archives/7719

http://ahwanmag.com/archives/7726/

लेकिन *माटसाब* के लिए ये सब बातें फ़ारसी या हिब्रू में लिखी लगती हैं! उन्हें समझ आने से रहा। वह तो बस हमारी आलोचना का इंतज़ार कर रहे होते हैं और जैसे ही उन्हें प्राप्त होती है वैसे ही वह मेंढक की तरह फुदक कर अपनी अवस्थिति फिर बदल लेते हैं और यहां तक कि कई बातें चोरी कर उसे अपनी मौलिक बातों के तौर पर पेश करने लगते हैं! ग़ज़ब नमूना है यह व्यक्ति!

निष्कर्ष

पटना के दोन किहोते महोदय और "यथार्थवादियों" ने जो इस बार भी अपनी अवस्थितियाँ और बातें बदली हैं वह उनकी हमेशा की आदत की तरह है। 'यथार्थ' में आए दो लेखों में आलोचना में हुई भयंकर रगड़ाई के बाद वे अपनी पुरानी अवस्थितियों को त्याग कर नयी अवस्थितियां अपनाने के ज़रिये अपनी खाल बचाने की कोशिश करते हैं। इसके अलावा *माटसाब* और "यथार्थवादी" कुलकपरस्त गिरोह ने इन दो लेखों में फिर से अपनी कई हास्यास्पद बातें दुहराई भी हैं, जिनका हम पहले ही जवाब दे चुके हैं, मसलन, स्थायी संकट का सिद्धान्त, अतिउत्पादन व अल्पउपभोगवाद को संकट का मूलभूत कारण बताना इत्यादि। हालांकि सतही तौर पर गरमागरम तेवर दिखाने के बावजूद "यथार्थवादी" बौड़म मण्डली बहस में अपने झूठ पकड़े जाने, बातें बदलते जाने, *गोलपोस्ट शिफ्ट* करते जाने और कुलकपरस्ती में आकण्ठ नहाने की वजह से हुई फज़ीहत के बाद इन लेखों में काफी रक्षात्मक मुद्रा में भी नज़र आती है। इन्हें बार-बार यह सफाई देनी पड़ी है कि ये कुलकपरस्त नहीं हैं और यह इनके ख़िलाफ़ कुत्साप्रचार की साज़िश की जा रही है! राजनीतिक आलोचना को "यथार्थवादियों" की यह जमात कुत्साप्रचार कह रही है जो ख़ुद आये-दिन क्रान्ति के भगोड़ों और कुत्साप्रचारकों के साथ रंगरलियाँ मनाते हुए रंगे हाथों बरामद होती है!

हाल ही में *माटसाब* फेसबुक पर धनी किसान-कुलक आन्दोलन के नेतृत्त्व को चुनौती देकर हटाने का नारा देते हुए भी पकड़े गए थे जबकि उनके शुरुआती लेखों में वह कुलक नेतृत्त्व की आन्दोलन में प्रशंसनीय भूमिका बता रहे थे और उसकी नाम की माला जप रहे थे। पाठकों को याद होगा कि अपने पिछले लेख तक अभी *माटसाब* धनी किसानों-कुलकों का पूंजीवाद से भरोसा उठने की बात कर रहे थे और उन्हें समाजवादी क्रान्ति का मित्र वर्ग बता रहे थे। मौजूदा लेख में उन्होंने तीन मुद्दों पर पलटी मारी है। **पहला**, वह बताते हैं कि अक्तूबर क्रान्ति में गांवों में भी तात्कालिक तौर पर समाजवादी क्रान्ति का ही दौर था और वहां वर्ग संश्रय भी तीन वर्गों का था। इसके ज़रिये वह भारत की समाजवादी क्रान्ति में कुलकों और धनी किसानों को वर्ग संश्रय का हिस्सा बनाए बिना सहयोगी बनाने की वक़ालत करते हैं और इसे "लचीलापन" की संज्ञा देते हैं! तमाम क़िस्म के संशोधनवादों की शुरुआत ऐसे ही "लचीलेपन" से होती है! **दूसरा**, वह बताते हैं कि 'किसान बुर्जुआज़ी' उत्पादन सम्बन्धों की नज़र से तो पूंजीपति वर्ग है लेकिन अगर वर्ग संघर्ष की तात्कालिक निशानदेही करें तो यह पूंजीपति वर्ग नहीं रहता है! इस कोरी बक़वास की सच्चाई भी हमने ऊपर उजागर की है कि किस प्रकार यह कुलकपरस्त "यथार्थवादी" गिरोह बुनियादी मार्क्सवादी सिद्धान्तों का विकृतिकरण करके कुलकों-धनी किसानों की दलाली करने का वैधीकरण तलाश रहा है। **तीसरा**, वह अपनी समाजवाद में श्रमशक्ति के माल होने और उसके मूल्य की गणना होने की मूर्खतापूर्ण अवधारणा को सही सिद्ध करने के लिए मार्क्स-पूर्व क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र की ग़लत अवधारणा का इस्तेमाल कर बताते हैं कि "श्रम का मूल्य" श्रमशक्ति का मूल्य ही होता है! इसके बाद *माटसाब* बताते हैं कि समाजवाद में सबको सबके श्रम के अनुसार भुगतान का मतलब होता है सभी को अपने "श्रम के मूल्य" के अनुसार भुगतान! इसके ज़रिये वह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि इस तरह समाजवाद में मज़दूरों को उनकी श्रमशक्ति के मूल्य के अनुसार भुगतान किया जाता था! इस हास्यास्पद ग़ैर-मार्क्सवादी "सिद्धान्त" की असलियत भी हम ऊपर देख आये हैं।

इन तीनों अवस्थितियों में हमने उन्हें ही उद्धृत कर यह भी दिखलाया कि हमारे द्वारा की गयी आलोचना से पहले उनकी अवस्थिति बिलकुल अलग थी। *माटसाब* बिलकुल *इलेक्ट्रान* की तरह चंचल व्यवहार करते हैं! जैसे ही उनपर आलोचना की रोशनी पड़ती है वैसे ही वह अवसरवादी चंचलता दिखाते हुए अपनी अवस्थिति बदल लेते हैं! यह "यथार्थवादी" बौड़म मण्डली का चिर-परिचित गुण है। मज़दूर वर्ग का पक्ष त्याग कर यह बौद्धिक बौने पूरी तरह अवसरवाद के नाले में लोट लगा रहे हैं लेकिन साथ में "क्रान्तिकारी" लफ्फाज़ी करना भी जारी रखे हुए हैं। लगता है कि यह कुलकपरस्त अवसरवाद इन्हें जल्द ही संशोधनवाद के "स्वर्ग" सिधार ही देगा।